'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'
श्रीमद्भागवत रहस्य
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती
सत् साहित्य प्रकाशन का द्वितीय उपहार

• दो शब्द

गत वर्ष श्रीमद्भागवत जयन्तीके अवसर पर प्रकाशित इस श्रीमद्भागवत रहस्यका जनताने बहुत आदर और सम्मान किया। पहला संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। इस दूसरे संस्करणमें कागज भी अच्छा है और टाइप भी सबकी सुविधाके लिये बड़ा दिया गया है। परिणामतः पृष्ठ संख्या स्वाभाविक ही बढ़ गयी है। पठनीय सामग्री ज्यों की त्यों है। पुस्तकका कलेवर बढ़ जाने तथा इसे अधिक परिष्कृत और सुसज्ज करनेमें मूल्य कुछ अधिक रखना पड़ रहा है, इसके लिये पाठक क्षमा करेंगे।

प्रकाशक

सत्साहित्य प्रकाशनका द्वितीय उपहार

श्रीमद्भागवत-रहस्य

*

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत-रहस्य

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठांक
१. श्रीकृष्ण-दर्शनका साधन	१
२. एतावान् एव !	१५
३ मधुर ब्रह्म	२९
४. श्रीमद्भागवत महापुराण है	४१
५. श्रीमद्भागवतका रचनाकाल	५९
६. प्रतिपादन शैली	७१
७. डाकू भक्त हो गया	९२
८. प्रतिपाद्य तत्त्व	१११
९. मोर-मुकुट	१५५
१०. क्या महाभारतके श्रीकृष्ण दूसरे हैं ...	१५९
११. श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ	१८१
१२. श्री राधा-नाम	१९७
१३. भक्तिरसकी पाँच धाराएँ	२०४
१४. परम तात्पर्य	२६०

श्रीहरिः

सबसे पूर्व अपूर्व

भगवान् नारायणने सृष्टिके प्रारम्भमें किंकर्तव्यविमूढ़ ब्रह्माको करुणावश इस ज्ञानप्रदीपका दान किया था (१२-१३-१९)। उन्होंने ही ब्रह्माके रूपसे नारदको, नारदके रूपसे व्यासको, व्यासके रूपसे शुकदेवको और शुकदेवके रूपसे राजा परीक्षितको यह अध्यात्मदीप दिया। प्रथम स्कन्धके द्वितीय अध्यायान्तर्गत तीसरे श्लोकमें श्रीमद्भागवतको और दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायके २४ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णको अध्यात्मदीप कहा गया है। इसका रहस्य यह है कि श्रीमद्भागवत और भगवान् श्रीकृष्ण अभिन्न हैं। इसीलिये भगवान्के प्रकाशक भी भगवान् ही हैं। वे स्वयंप्रकाश और अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हैं। जो-जो श्रीमद्भागवतका श्रवण एवं ग्रहण करता गया, वह-वह भगवान्से एक होता गया। इसीसे प्रत्येक वक्ता भगवत्स्वरूप है और यह प्रवचनरूप श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है। वक्ताके रूपमें अविर्भाव भगवान्की करुणा है। इसीलिये नारायणने तो करुणावश इसको प्रकाशित किया ही, उन-उन वक्ताओंके रूपमें भी करुणासे ही इसका प्रकाशन हुआ। आप देख सकेंगे कि श्रीमद्भागवतमें नारायणमें, ब्रह्मामें, नारदमें, व्यासमें और शुकदेवमें भी प्रवचनकी प्रवृत्ति केवल 'कारुण्यतः, कारुण्यात्, कारुणिकस्य'—करुणावश ही है। ठीक ही है, चित्तमें स्नेह या करुणाका उदय हुए बिना रहस्य प्रकाशित नहीं किया जाता।

स्वयं भगवान् ही मङ्गलमय अचिन्त्य, अनन्त गुणोंको धारण करके शुकदेवके रूपमें प्रकट हुए हैं और गर्भमें ही ब्रह्मास्त्रसे दग्ध एवं अपने अनुग्रहसे उज्जीवित परीक्षितको सर्वदाके लिये जन्म-मरणके

बन्धनसे मुक्त कर रहे हैं । राजर्षि परीक्षितको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हुई (देखिये, १२।६—'प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणम्', 'ब्रह्मभूतो महायोगी', 'ब्रह्मभूतस्य राजर्षेः')। यद्यपि श्रीमद्भागवतके अनेक वक्ता तथा श्रोता हैं, तथापि मुख्यवक्ता और मुख्यश्रोता शुकदेव-परीक्षित ही हैं; क्योंकि ब्रह्माने सृष्टिके निर्माणके लिये, नारदने भक्ति-भावके विस्तारके लिये, व्यासने लोक-कल्याणके लिये श्रीमद्भागवतका श्रवण किया । शौनकादि ऋषियोंने दीर्घकालीन यज्ञमें अवकाशके समय कर्मपूर्तिके लिये श्रवण किया; परन्तु राजर्षि परीक्षितने केवल परमात्माके अनुभवके लिये श्रवण किया । उग्रश्रवामें बलरामजीके द्वारा स्थापित वक्तृत्व है अर्थात् उस समय भगवदावेश है । व्यास कलाकार हैं, नारद मानसावतार हैं, ब्रह्मा गुणावतार हैं । वे अपने-अपने कार्य पूर्ण करते हैं । शुकदेवजी केवल राजर्षि परीक्षितके कल्याणके लिये गजेन्द्रकी रक्षाके लिये हरिके समान स्फूर्ति अवतार हैं ।

श्रीमद्भागवत-श्रवणके अनन्तर ब्रह्मा सृष्टिकर्ममें लग गये । नारद भक्तिभावके प्रचार-प्रसारमें लगे, व्यासजीने समाधि लगाकर श्रीकृष्णलीलाओंका अनुस्मरण किया और लोककल्याणके लिये भागवतका निर्माण किया । शौनकको श्रवणानन्दका अनुभव तो बहुत हुआ; परन्तु श्रवण गौण होनेके कारण केवल यज्ञ-फलकी समग्रता ही प्राप्त हुई, मोक्ष अथवा भगवल्लीलामें प्रवेश नहीं हुआ । परन्तु परीक्षित विना किसी व्यवधानके तत्काल श्रवणमात्रसे ही मुक्त हो गये । इसलिये श्रोताओंमें मुख्य परीक्षित ही हैं । माहात्म्यमें उन्हें ही श्रवणसे मुक्तिका साक्षी कहा गया है । बारहवें स्कन्धके अन्तमें संसार-सर्पसे दष्ट परीक्षितकी मुक्तिका अनुस्मरण है । श्रवणनिष्ठा भी उन्हींकी प्रसिद्ध है ।

शुकदेवजी अवधूतशिरोमणि हैं । न तो यह नारायणके समान वैकुण्ठनाथ लक्ष्मीलालितपदारविन्द ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हैं और

न ब्रह्माके समान सृष्टि-निर्माता । यह न वीणापाणि नारदके समान प्रचारक-प्रसारक हैं और न तो व्यासके समान लोकसंग्रही । ये तो अवधूतशिरोमणि हैं और इतने गूढ़भावसे रहते हैं कि देखनेमें मूढ़-से लगते हैं । इसके वर्णनमें कहा गया है कि शुकदेवजी महा-योगी, समदर्शी, निर्विकल्प एवं ब्रह्मनिष्ठ थे । अविद्या-निद्रा उनके पास कभी फटकती नहीं । उन्हें स्त्री-पुरुषके भेदका ज्ञान ही नहीं था । वे उन्मत्त, मूक एवं जड़के समान विचरण करते थे । वे निवृत्तिनिरत, सबकी उपेक्षा करनेवाले, आत्माराम एवं मौनी थे । जब राजा परीक्षित शाप होनेपर अपने साम्राज्यका परित्याग करके गंगातटपर ऋषियोंकी सभामें बैठ गये तब भी वहाँ शुकदेवजी गुप्त रूपसे ही विराजमान थे । राजर्षि परीक्षितके प्रायोपवेश और प्रश्नके अनन्तर ही उन्होंने अपनेको प्रकट किया और उस समय प्रथम स्कन्धमें जो वर्णन है वह विशेष अनुसन्धान करने योग्य है । जैसे, किसी भक्तके सामने भगवान्के प्रकट होनेपर उनके सर्वांग सौन्दर्यका निरूपण किया जाता है, इसी प्रकार वहाँ शुकदेवजी की अड़तीस विशेषताओंका वर्णन है । ऐसे विशिष्ट पुरुषका वक्ता होना और भगवान्के अनुग्रहभाजन परीक्षितका श्रोता होना—यह श्रीमद्भागवत की एक ऐसी विशेषता एवं अपूर्वता है जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

वक्ताओं एवं श्रोताओंकी परम्पराके अतिरिक्त यदि विषयकी गम्भीरतापर एक दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होता है कि यह तो अखिल श्रुतिसार शुकदेवजीकी स्वानुभूति एवं पुराणगुह्य है । यह मनोवृत्तियोंके गुप्त-से-गुप्त रहस्योंको प्रकट करनेवाला अध्यात्मदीप है और सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानकी रश्मियोंको बिखेरनेवाला ज्ञानप्रदीप पुराणार्क है । इसमें शुद्धान्तःकरण पुरुषोंके लिये परमकल्याणकारी तत्त्ववस्तुका निरूपण है । साधनकी दृष्टिसे मोक्षाभिसन्धिरहित निष्काम

भगवदर्पित धर्म जिसको समूचे भागवतमें भक्तियोग अथवा भागवतधर्मके नामसे कहा गया है, वर्णन है और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सहस्र-सहस्र उपायोंमें सर्वश्रेष्ठ उपाय यह भक्तियोग ही है—

तत्रोपाय सहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥
(७।७।२९)

साधन-भक्तिसे साध्यभक्ति अथवा प्रीतिकी प्राप्ति होती है और उसीसे परमात्माका सर्वत्र दर्शन और परात्मैकत्वदर्शन सम्पन्न होता है। भक्तिसे ब्रह्मज्ञान कैसे होता है—इसकी प्रक्रिया श्रीमद्भागवतमें देखिये—

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद् हस—
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥
तदा पुमान् मुक्त समस्त बन्धन—
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥

अथोत्तजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधा—
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥
(७।७।३४-३७)

जब भगवान्‌के लीलाशरीरोंसे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुभव, गुण और चरित्रोंको श्रवण करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओंके मारे कण्ठ गद्गद होता जाता है और वह संकोच छोड़कर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने और नाचने लगता है; जिस समय वह ग्रहग्रस्त पागलकी तरह कभी हँसता है, कभी करुण क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगोंकी वन्दना करने लगता है; जब वह भगवान्‌में ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लम्बी साँस खींचता है और संकोच छोड़कर 'हरे ! जगत्पते !!, नारायण !!!' कहकर पुकारने लगता है, तब भक्तियोगके प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार—भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोंका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

इस अशुभ संसारके दलदलमें फँसकर अशुभमय हो जानेवाले जीवके लिये भगवान्‌की यह प्राप्ति संसारके चक्करको मिटा देनेवाली है। इसी वस्तुको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई निर्वाण—सुखके रूपमें पहचानते हैं। इसलिये मित्रो ! तुम लोग अपने-अपने हृदयमें हृदयेश्वर भगवान्‌का भजन करो।

श्रीमद्भागवतकी अपूर्वता ही यह है कि इसमें ज्ञान—वैराग्य और भक्तिसहित नैष्कर्म्यका निरूपण किया गया है। यह वैष्णवोंका

धन है, तो परमहंसोंके ज्ञान का निधान है। इसमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि ईश्वरकी भक्ति करनेसे जो-जो ईश्वरसे भिन्न प्रतीत होता है, उस-उससे वैराग्य और ईश्वरतत्त्वका अधिकाधिक अनुभव होता जाता है अर्थात् वैराग्य पदार्थ-शोधनमें सहकारी है और ज्ञान अन्तरङ्ग है। इस प्रकार भक्ति अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग—दोनों साधनोंकी जननी है। जैसे भोजन करते समय प्रत्येक ग्रासके साथ-साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती जाती है, उसी प्रकार भक्तिका एक-एक भाव परमात्माके प्रति अनुरक्ति, संसारके प्रति विरक्ति—और ब्रह्मानुभूतिका कारण बनता जाता है। यद्यपि उपनिषदोंमें भी भक्तिभावकी महिमाका स्पष्ट वर्णन है—'जिसके हृदयमें ईश्वर और गुरुके प्रति परमभक्ति होती है, उसी अधिकारी पुरुषके प्रति औपनिषद् अर्थ अपनेको प्रकाशित करते हैं—'यस्य देवे पराभक्तिः', 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये,' मन्त्रभागमें भी अनेक भक्तिभावके सूचक स्तुतिवाक्य हैं, तथापि इस परमहंस संहितामें भक्तिभावकी अपूर्व महिमाका अपूर्व उल्लेख हुआ है। क्योंकि इसमें लौकिक वस्तुओंसे लेकर परमार्थ वस्तुकी उपलब्धितक भक्तिको साधन स्वीकार किया गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(२।३।१०)

जो बुद्धिमान् पुरुष है—वह चाहे निष्काम हो, कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो—उसे तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान्की ही आराधना करनी चाहिये।

केवल साधनके ही रूपमें नहीं, जब भक्ति स्वभावसिद्ध हो जाती है तब वह अद्वेष आदि सद्गुणोंके समान तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी जीवन्मुक्त महापुरुषके हृदयमें रहती है और

जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका आस्वादन कराती है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जीवन्मुक्त तो अनेक होते हैं, परन्तु उनमें नारायणपरायण कोई-कोई होते हैं । भक्ति भगवदाकार वृत्ति होनेके कारण प्रारब्धजन्य सुख-दुःखोंका भान नहीं होने देती, नवीन वासनाओं और दोषोंको आने नहीं देती, संसारमें होनेवाले राग–द्वेषको काटती है, संचित कर्मराशिको भगवान्‌की ओर उन्मुख करती है, क्रियमाण और आगामी कर्मको सुधारती है, वैराग्य और शम-दमादि साधन–सम्पत्तिको बढ़ाती है, पदार्थ-शोधनमें स्पष्टता लाती है और विद्याकी उत्पत्ति होकर अविद्याकी निवृत्ति होनेपर अनन्त तृप्तिके रूपमें यावज्जीवन निवास करती है । इसी भक्तिरूप अपूर्वताके द्वारा धर्म, क्रियायोग, अष्टाङ्गयोग बुद्धियोग आदि सभी साधनोंको परमात्माकी अनुभूतिमें सहायक बना देना और स्वर्गादि रूप फलकी ओर ले जानेवाली उनकी गतिको परमात्माकी ओर मोड़ देना—यह श्रीमद्भागवतकी अपनी विशेषता है ।

ग्रन्थमें जहाँ-जहाँ भगवदवतारके प्रसंग हैं, वे भी अपूर्व चमत्कारकारिणी रीतिसे भगवत्तत्वके ही बोधक हैं । वे आधिभौतिक एवं आधिदैविक रूपसे तो जनकल्याणकारी एवं अन्तःकरणशोधक हैं ही, आध्यात्मिक धरातलपर भी अविद्या एवं उसकी वंशपरम्पराके निवर्तक हैं । कर्दम, सुतपा, कश्यप, वसुदेव आदि जितने भी भगवान्‌के पिता-पदवाच्य हैं वे शुद्ध सत्त्वात्मक शमादि सद्गुण प्रधान शुद्ध मनके वाचक हैं और देवहूति, पृश्नि, अदिति, देवकी, कौशल्या तीक्ष्ण एवं एकाग्र प्रज्ञाके उपलक्षण हैं । शिशुरूपमें भगवान्‌का जन्म ब्रह्म चैतन्यका वृत्त्यारूढ़ होना है । जैसे व्यवहारमें कोई भी कर्म अथवा ज्ञान इन्द्रियाँ ही नहीं करतीं, तत्तद् वृत्त्यारूढ़ चेतन ही कर्ता तथा ज्ञाता होता है, इसी प्रकार वृत्त्यारूढ़ चेतन ही अविद्या और उसके कार्यको नष्ट करता है, जब वह ब्रह्मरूप विषयसे

अभिन्नरूपमें अपनेको जानता है। फिर तो वृत्ति अपने कारण अविद्याकी निवृत्तिके साथ ही साथ बाधित हो जाती है एवं ब्रह्मसे अभिन्न चेतन ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इसीसे अवतार चेतनाके आविर्भाव और लीलासंवरणके वर्णन आते हैं। महाप्रलयमें भगवान्‌का नौकाविहार बीजविशिष्ट कारणोपाधिक चेतनका ही वर्णन है। समुद्रमन्थनके प्रसङ्गमें देवताओंको सलाह देना, मन्दराचलको ले आना, कच्छपरूपसे धारण करना, मन्दराचलको ऊपर उठनेसे रोकना, वासुकिको पकड़कर स्वयं मन्थन करना, धन्वन्तरिके रूपमें अमृतकलश लेकर प्रकट होना, मोहिनीके रूपमें पिलाना और नारायणके रूपमें देवताओंको विजयी बनाना—यह सब अमृतरूप अमृतत्त्वकी प्राप्तिके ही साधन एवं साध्यरूप प्रमेयोंका विवरण है।

श्रीकृष्णावतारके प्रसङ्गमें भी देवकी वसुदेवरूप शुद्ध प्रज्ञा एवं शुद्ध सत्वसे आविर्भूत गोकुलमें जाना और वहाँ यशोदा-नन्दको माता-पिताके रूपमें स्वीकृति देना इस बातका सूचक है कि भगवान्‌के माता एवं पिता वास्तविक नहीं होते, भावको गाढ़ता एवं दृढ़ताके तारतम्यसे ही उनमें मातृत्व एवं पितृत्वका उपचार होता है। अविद्या पूतना है, शकटासुर जड़वाद है, बकासुर दम्भ है, अघासुर पाप है, धेनुकासुर देहाध्यास है, कालियनाग भोगासक्तिरूप विष है—यह सब बातें ध्यान देने योग्य हैं। यह केवल मनगढ़न्त कहानियाँ नहीं हैं, भौतिकरूपसे ऐतिहासिक सत्य हैं, आधिभौतिकरूपसे देवासुर संग्रामके दैत्य हैं, आध्यात्मिकरूपसे जीवके जीवनमें रहनेवाले विकार हैं। इनकी निवृत्ति स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान सामान्य चेतनके द्वारा नहीं होती, वह तो इनका प्रकाशक ही है। इसलिये अवतार-चेतनकी आवश्यकता होती है प्रयोजन पूर्ण हो जानेपर उनकी आवश्यकता नहीं रहती, इसलिये लीलासंवरण भी होता है। इस

प्रकार हम देखते हैं कि इन पौराणिक कथाओंमें कितनी विलक्षण प्रक्रियासे भगवत्तत्त्वका रहस्य समझाया गया है।

भगवान् श्रीकृष्णकी जो चीरहरण आदि शृङ्गाररस प्रधान लीलाएँ हैं, उनका भी एक अद्भुत भाव है। यह देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है कि ग्रामीणोंको, बाल-वृद्ध-स्त्रियोंको प्रिय लगनेवाली आख्यायिकाओंके रूपमें गम्भीर-से-गम्भीर तत्त्वका कितना रोचक निरूपण कर दिया गया है! चीरहरणका अर्थ आवरणभङ्ग है और रासलीलाका अर्थ अन्तःकरणकी शान्त एवं मुदित, लीन तथा गतिशील सभी वृत्तियोंमें भगवत्तत्त्वका अनुपमरूपसे स्फुरित होना है। इस आध्यात्मिक हल्लीसक नृत्यका, जिसमें एक ही नट अनेक प्रकार से अनेक-अनेक नटियोंके साथ नृत्य करता है, विलास एवं विहार करता है, जिस ज्ञानसम्पन्न साधकको अनुभव होने लगता है वह तत्त्वदर्शी हो जाता है एवं जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका भाजन बनता है।

श्रीकृष्णके पहले व्रजवासियोंका त्याग और फिर यदुवंशियोंका विध्वंस मुक्तिका स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिये उनकी निरोधलीलाके ही अंग हैं। वे कंस, जरासन्ध, शिशुपाल, कौरवादिरूप केवल क्लिष्ट वृत्तियोंका ही संहार नहीं करते प्रत्युत यदुवंशियोंके रूपमें जो सात्त्विक वृत्तियाँ हैं, उनका भी निरोध एवं बाध करते हैं; क्योंकि इनके बिना महानिर्वाणरूप कैवल्यमुक्तिका ठीक-ठीक प्रकाशन नहीं होता। मार्कण्डेयोपाख्यान भी नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी मायामात्रताका बोध कराने के लिये ही है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आभास एवं निरोधके अद्वितीय अधिष्ठान भगवान् अथवा परमात्माके वस्तुस्वरूप आश्रय ब्रह्मका साक्षात्कार करानेके लिये श्रीमद्भागवतमें अपूर्व शैलीसे युक्तियाँ, उपपत्तियाँ निरूपित हुई हैं। इस बातमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि श्रीमद्भागवतके

श्रवणमात्रसे ही तत्काल हृदयमें ईश्वरका आविर्भाव हो जाता है और वह सर्वथा रहता है ।

श्रीमद्भागवतकी इस अपूर्वतासे ही यह बात ध्यानमें आ जाती है कि इसका रहस्य कितना गम्भीर है । इस ग्रन्थमें अनेक निबन्धोंके द्वारा जो कि भिन्न-भिन्न समयमें लिखे गये हैं, और इनमें से कुछ तो बीस वर्षसे भी पहलेके हैं, संगृहीत किये गये हैं । मेरा विश्वास है कि इनसे भक्तजनोंकी श्रीमद्भागवत् विषयक श्रद्धा बढ़ेगी और रसविशेषके आस्वादनमें सहायता मिलेगी । श्रीमद्भागवत जयन्ती सप्ताहके उपलक्ष्यमें सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके द्वारा श्रीमद्भागवत-रहस्यका प्रकाशन सर्वथा श्लाघनीय है । मुझे विश्वास है कि यह ट्रस्ट निकट भविष्यमें जनताकी यथामति, यथा शक्ति अच्छी सेवा करेगा ।

श्रीमद्भागवत जयन्ती सप्ताह
संवत् २०१८

अखण्डानन्द सरस्वती
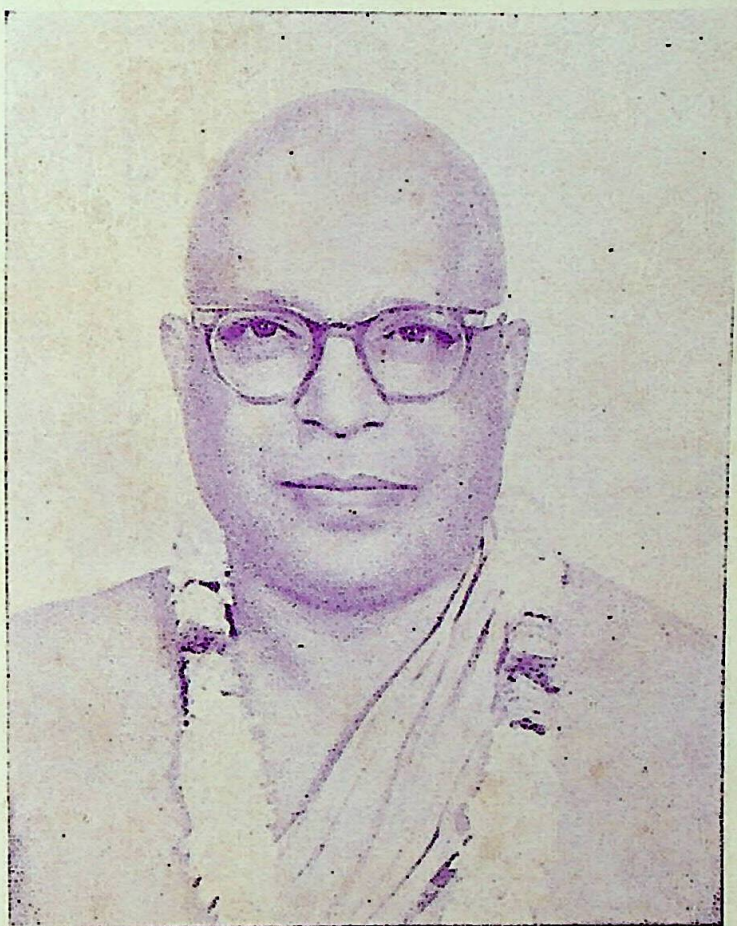
पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

श्रीकृष्ण-दर्शन का साधन

'कहीं इस तरह भी जप किया जाता है? धीर-गम्भीर भावसे अर्थका अनुसन्धान करते हुए अन्तस्तलसे एक-एक अक्षरका उच्चारण करो। उसके साथ एक हो जाओ। क्या तुम बेगार भरनेके लिये संख्या पूरी करते हो?' एक सुरसे वे इतना बोल गये और मेरा सिर पकड़कर हिला दिया। मैंने चौंककर देखा तो एक लंबे तगड़े गौर वर्णके तेजस्वी महात्मा मेरी आँखोंके सामने खड़े हैं। मैंने माला वहीं छोड़ दी, सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श किया और जिस चौकी पर मैं बैठकर जप कर रहा था, उस पर उन्हें बैठा दिया, और मैं स्वयं उनके चरणोंके पास जमीन पर ही बैठ गया।

ये महात्मा मेरे अपरिचित नहीं थे। मैंने इन्हें तब देखा था, जब मेरी अवस्था आठ वर्षकी भी नहीं रही होगी। ये कभी-कभी मेरे बाबाके पास आया करते थे। इनके दिये हुए नारियलके प्रसाद मुझे भूले नहीं थे। उनके भरे हुए मुखमण्डलपर एक ऐसी आकर्षक ज्योति जगमगाती रहती थी, जिसे एक बार देख लेनेपर दिलमें गहरी छाप पड़ जाती थी। गठा हुआ नैपाली शरीर, लोगोंसे कम मिलना-जुलना और अपनी कुटीमें रहकर एकान्त साधन करना—यही उनके जीवनकी विशेषताएँ थीं। वे चौमासेमें प्रायः नैपाल चले जाते थे और बाकी महीनोंमें मेरे गाँवसे दो मीलकी दूरीपर एक विशाल वटवृक्षकी छायामें बनी हुई छोटी-सी कुटियामें रहते थे। मैं न जाने कितनी बार इनसे मिला था; परन्तु आज की तरह नहीं।

आज तो चार बजे रातको जब मैं अपनी जपसंख्या पूरी करनेके लिये जल्दी-जल्दी माला फेर रहा था, तब अचानक इनके दर्शन हुए और उपर्युक्त बात कहकर वे उस छोटी-सी चौकीपर बैठ गये। वे मौन थे, उनके चरणोंकी ओर देखता हुआ मैं भी मौन था। इस प्रकार पंद्रह-बीस मिनट तो बीत ही गये होंगे।

उन्होंने अपना मौन भङ्ग करते हुए कहा—'मुझे इस समय यहाँ देखकर आश्चर्यचकित होनेकी कोई बात नहीं। मैंने सुना कि अब तुम उपनिषदादि पढ़कर लौट आये हो और परमात्माकी ओर तुम्हारी कुछ प्रवृत्ति है, तो मनमें आया—चलें, जरा देख आवें क्या हालचाल है। इतना सवेरे आनेका कारण यह था कि मनुष्योंकी प्रवृत्ति जाननेके लिये यही समय उपयुक्त है। किसी मनुष्यकी आन्तरिक प्रवृत्ति जाननी हो तो यह देखना चाहिये कि वह क्या करता हुआ सोता है और क्या करता हुआ जागता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ मनुष्यको उसकी रुचि और प्रवृत्तिके समीप रखती हैं। तुम्हें जप करते देखकर मुझे बड़ा सुख हुआ। तुम्हारी शुभेच्छा और तत्परता प्रशंसनीय है; परन्तु इसमें कुछ संशोधनकी आवश्यकता है।' मैंने जानना चाहा कि क्या-क्या संशोधन होने चाहिये, परन्तु उन्होंने उस समय मेरे प्रश्नको टालते हुए कहा—'चलो, अभी तो गङ्गाजी चलें। शुद्ध प्रभाती वायुके सेवनसे शरीरमें एक नवीन स्फूर्तिका प्रवाह होने लगता है, मन प्रसन्न हो जाता है और शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है। इसलिये चलो गङ्गाजी; गङ्गास्नान तो होगा ही, प्रातःकालीन भ्रमण भी हो जायगा।' वे आगे-आगे चले और मैंने उनका अनुसरण किया। . . . .

गङ्गाजीके प्रति मेरा सहज आकर्षण है। गङ्गाजीका पुलिन, उनके तटके वृक्ष, उनकी अठखेलियाँ करती हुई तरङ्गें, मेरे मनको वरबस हर लेती हैं। मेरे मनमें एक नहीं, अनेक बार ऐसी इच्छा होती है कि मैं गङ्गातट पर रहूँ, केवल गङ्गाजल पीऊँ और स्वर्ण-सी चमकती हुई नवनीत-सी कोमल बालुकाओं पर मन भर लोटूँ, लोटता ही रहूँ। जब मैं परमहंसजीके पीछे-पीछे चला तब मेरे मनमें केवल यही कल्पना थी कि आज परमहंसजीके साथ गङ्गाजीमें खूब स्नान करूँगा, उनसे जप और ध्यानकी विधि सीखूँगा। रास्तेमें न वे बोले न मैं। दोनों मौन रहे; परन्तु गङ्गाजीकी दूरी ही कितनी थी? बस, एक मीलसे कुछ अधिक। बात-की-बातमें हम वहाँ पहुँच गये। शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर वहीं मनोहर वटवृक्षके नीचे हमलोग बैठ गये। परमहंसजीका रुख देखकर मैंने उनसे पूछा—'भगवन्, जपमें यदि संख्यापूर्तिका ध्यान न रक्खें तो कैसे काम चले? क्या जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक नाम-जप कर लें; यह उत्तम नहीं है?' उन्होंने कहा—'उत्तम क्यों नहीं है? भगवान्का नाम चाहे जैसे लिया जाय, उत्तम ही है। परन्तु नाम-जपके साथ यदि भावका संयोग हो, प्राणोंका संयोग हो और रस लेते हुए नाम-जप किया जाय तो इसका फल पग-पगपर मिलता जाता है। एक-एक नामका उच्चारण अपरिमित आनन्दका दान करनेवाला होता है। केवल नामोच्चारण सफल तो होता है, परन्तु कुछ विलम्बसे।'

'देखो, तुम्हें मैं स्पष्ट बतलाता हूँ।' इस प्रकार परमहंसजी बोलने लगे—'साधारणतः नाम-जप वागिन्द्रियका काम है।

वागिन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय है, इसका सञ्चालन प्राणशक्तिके द्वारा होता है। वागिन्द्रियसे जप करनेका अर्थ है प्राणोंके साथ उसको एक कर देना। यदि जप स्वरसे होता है, जिह्वाकी एक नियमित गति रहती है तो प्राणोंकी गति भी नियमित रूप धारण कर लेती है। बेसुरे ढङ्गसे एक साँसमें पाँच-सात बार राम-राम कह जानेकी अपेक्षा एक बार स्वरसे कहना उत्तम है। गम्भीरताके साथ 'रा·······म, रा·······म' इस प्रकार जप करनेमें प्राणायामकी अलग आवश्यकता नहीं होती। क्रियाशक्ति पर नियन्त्रण होनेके कारण आसन स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक तो स्थूल क्रियाकी बात हुई। जप केवल कर्मेन्द्रियसे ही नहीं होता। और इन्द्रियोंकी अपेक्षा वागिन्द्रियकी एक विशेषता है, वह यह है कि वागिन्द्रियके साथ एक ज्ञानेन्द्रिय, जिसको रसना कहते हैं, रहती है। अधिकांश तो वागिन्द्रियसे ही जप करते हैं, उसमें रसनेन्द्रियका उपयोग नहीं करते। उपयोग करनेकी तो बात ही क्या, उसका स्वरूप ही नहीं जानते। रसना का काम है रस लेना। वागिन्द्रियसे नामका उच्चारण हो और रसना उसका रस ले, प्रत्येक नामकी मधुरताका अस्वादन करे—यह परिणाममें ही नहीं, वर्तमानमें भी सुखद है। इस प्रकार रसकी धारणा करनेसे प्रत्याहारकी अलग आवश्यकता नहीं होती, ज्ञानेन्द्रिय और मनका एकत्व हो जाता है। नियमित गतिसे वागिन्द्रिय प्राणमें लय हो जाती है और रस लेनेसे ज्ञानेन्द्रिय मनमें लय हो जाती है। इस समय यदि मन्त्रार्थका चिन्तन रहा, तो यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस चिन्तनमें प्राण और मन दोनों एक हो जायँगे। प्राण और मनका एकत्व ही सुषुम्णाका

संचार है और यही पहले ध्यानकी एवं पीछे समाधिकी अवस्था है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जपमें तीन बातें रहें—मन्त्रका उच्चारण गम्भीरतापूर्वक नियमित गतिसे हो, मन्त्रकी मधुरताका आस्वादन हो और मन्त्रके अर्थका चिन्तन हो, तो किसी भी हठयोग या लययोगकी आवश्यकता नहीं है, केवल जपसे ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक बात और। मन्त्रार्थचिन्तनका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके शब्दोंका अलग-अलग अर्थ जान लिया जाय। मन्त्रके एकमात्र अर्थ हैं अपने इष्टदेवता। उनका जो स्वरूप अपने चित्तमें हो, उसका चिन्तन ही मन्त्रार्थचिन्तन है।'

'यदि तुम इस बातको समझकर इसके अनुसार जप कर सकोगे तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।' इतना कहकर उन्होंने अपने उपदेशका उपसंहार किया। मैं अभी कुछ और सुनना चाहता था। मुझे परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करनेमें बड़ी कठिनाइयां मालूम होती थीं; परन्तु मैंने अब इस समय कुछ पूछना उचित न समझा। धूप हो रही थी, यह मालूम नहीं था कि ये अपनी कुटी पर जायँगे या मेरे घर। इसलिये मैं चुप हो रहा और मेरा भाव समझकर उन्होंने वहाँसे यात्रा कर दी, मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

परमहंसजीकी कुटिया बड़े सुन्दर स्थानपर थी। जलका भारी ताल, बड़े सुन्दर-सुन्दर घने वृक्ष देखने योग्य थे। परमहंसजी तो कभी-कभी उन वृक्षोंसे ही घण्टों बात करते रह जाते थे। आसपासके गाँवोंमें वे सिद्धके रूप में प्रख्यात थे, इसलिये उनकी इच्छाके विपरीत वहाँ कोई नहीं आता था। जब हमलोग वहाँ पहुँचे तो सर्वथा

एकान्त था। मुझे बाहर छोड़कर परहंसजी अपनी एकान्त कुटियामें ध्यानस्थ हो गये और मैं बाहर बैठकर साधनकी कठिनाइयोंपर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था—साधन तो सुगम-से-सुगम होना चाहिये। जन्म-जन्मसे कठिनाइयोंके चक्रमें पिसता हुआ जीव यदि भगवान्‌की ओर चलनेमें भी कठिनाइयोंके अन्दर ही रहे तो फिर साधना और साधारण स्थितिमें अन्तर ही क्या रहा! अपनी असमर्थता, दुर्बलता और चञ्चलताको देखकर निराश हो गया। मैंने सच्चे हृदयसे प्रार्थना की—'हे प्रभो, मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो और तुम्हारे पास पहुँचनेका क्या साधन है? मैं यह सब जान सकूँ, इसका भी मेरे पास कोई उपाय नहीं है। मुझ आश्रयहीनके तुम्हीं आश्रय हो। मुझ दीनके तुम्हीं दयालु हो, मुझ भिखारीके तुम्हीं दाता हो। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ। मैं प्रार्थना करते-करते तन्मय हो गया, यह पता नहीं रहा कि कितना समय बीत गया।

दो बजे परमहंस जी कुटियासे बाहर आये। प्रसाद पानेके अनन्तर उन्होंने स्वयं कहा—'साधनामें कोई कठिनाई नहीं है; यह मार्ग तभी तक बीहड़ मालूम होता है, जब तक इसपर पैर नहीं रक्खा जाता। इसपर चल दो, फिर तो तुम्हारी सब कठिनाइयाँ अपने-आप हल हो जायँगी। संसारी पुरुष जिसे कठिनाई समझते हैं, वह तो साधकोंके लिये वरदान है। कठिनाईमें ही उनकी आत्मशक्ति और आत्मविश्वासका विकास होता है। जिसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने साध्यको प्राप्त करके ही रहूँगा, भला, ऐसी कौन-सी कठिनाई है, जो उसे अपने मार्गसे विचलित कर सके?

कठिनाई भी एक साधना है, जो साधकोंको नीचेसे ऊपरकी ओर ले जाती है। जिसके जीवनमें कठिनाई नहीं आयी, वह जीवनके मार्गमें कुछ आगे भी बढ़ा है, इसका क्या सबूत है?'

और भी बहुत-सी बातें हुई, उनका मेरे चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, कठिनाइयोंकी परवा किये बिना मैं आज ही से साधनामें लग जाऊँगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो परमहंसजीके शरीरसे, उनके नेत्रोंसे एक दिव्य शक्ति निकलकर मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मुझमें एक अद्भुत उत्साहकी स्फूर्ति हो रही है। मैं उनके सामने बैठा-बैठा ही एकाग्र हो गया। मेरे चित्तमें स्थिरता और शान्तिका उदय हुआ। मैं जान सका कि अब मेरी साधनामें कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।

घर लौटनेपर मैंने परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करना प्रारम्भ किया। मैं स्थिर आसनसे बैठकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर नामका उच्चारण करता, परन्तु ओठ मेरे हिलते न थे। मैं जप करता कृ........ष्ण! कृ........ष्ण! परन्तु यह क्रिया प्राणोंकी शक्तिसे ही सम्पन्न होती। पूरा मन जपमें ही लगा रहता। रसनेन्द्रिय स्वाद भी लेती। पहले कुछ दिनों तक तो यदि कभी मन असावधान हो जाता, तो जप ऊपर-ही-ऊपर होने लगता। परन्तु कुछ ही क्षणोंमें यह मालूम हो जाता कि बिना शक्ति लगाये जो जप हो रहा है, उसका मेरे शरीर और अन्तःकरण पर कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ रहा है, मैं तुरन्त सजग हो जाता और फिर बलपूर्वक नामका उच्चारण करने लगता। मुझे प्राणोंकी ओर ध्यान नहीं रखना पड़ता था, मैं तो केवल बलकी ओर ही ध्यान रखता था; परन्तु प्राणोंकी गति स्वयं

ही नियमित और नामानुवर्तिनी हो जाती थी। नामके उच्चारणके समय 'कृ' का कम्पन कण्ठमें और 'ऋ, ष, ण' का मूर्धामें होता था, इससे अपने-आप ही प्राणोंकी गति मूर्धाकी ओर हो गयी। अब तो जप करते समय मुझे इसका भी स्मरण नहीं रहता था कि प्राणवायु चल रहा है अथवा नहीं। मेरा मन सहज रूपसे एकाग्र होने लगा।

जब मेरा मन एकाग्र हो जाता अर्थात् और किसी तरफ जाना छोड़कर जपमें ही पूरी तरहसे लग जाता, तब ऐसा मालूम होता कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर जितना बड़ा ही एक ज्योतिःपुञ्ज हूँ। केवल घन प्रकाश, जिसकी आकृति मेरे शरीर-जैसी ही थी, मेरे मनके सामने रहता था। यदि कभी उससे बाहर दृष्टि जाती तो यह प्रकाश-शरीर भी एक हल्के प्रकाशसे घिरा हुआ दीखता। तात्पर्य यह कि मेरा मन किसी पार्थिव अथवा जलीय पदार्थको देखता ही न था, केवल तेजका अनुभव करता था। इस तेजोमय शरीरके अन्दर कृ····ष्ण ! कृ····ष्ण ! का उच्चारण होता रहता और ऐसा मालूम होता कि ज्योतिकी धारा ऊर्ध्वगामिनी हो रही है। यह मेरी भावना न थी, क्योंकि मैं इस प्रकारकी भावनाओंको भूलकर केवल जप करना चाहता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्त्रवर्णोंके संघर्षका ही फल था।

यह प्रकाशकी धारा ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होकर मस्तकमें केन्द्रित होने लगी। अवश्य ही कई महीनोंके अभ्यासके बाद ऐसा मालूम होने लगा था। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता कि यदि सहस्र-सहस्र सूर्य इकट्ठे कर दिये जायँ, तो भी इस मस्तकस्थित प्रकाशकी तुलनामें नहीं आ सकते; परन्तु उस प्रकाशके केन्द्रमें भी कुछ क्रिया

होती-सी दिखायी पड़ती और पूरी शक्तिसे कृष्णका पूर्ववत् जप होता रहता। अब यह इच्छा नहीं होती थी कि जगत्के किसी आवश्यक कार्यके लिये भी मैं अपनी आँखें खोलूँ। परन्तु जब कभी मैं आँख खोलता था, तो बाहर भी मुझे प्रकाश-ही-प्रकाश दीखता था। कुछ क्षणोंके बाद बाहरकी विभिन्नताएँ दीख भी पड़ती थीं, तो रह-रहकर उनके अन्दर प्रकाशकी एक रेखा चमक जाती थी। प्रायः उस समय भी बिना किसी चेष्टाके मेरे अन्दर जप होता रहता था और कभी-कभी तो बाहरकी वस्तुओंमें भी जप होता हुआ दीखता था, मानो पृथ्वीका एक-एक कण कृष्ण-कृष्ण कह रहा हो।

थोड़े ही दिनोंके अभ्याससे ऐसा मालूम होने लगा कि मस्तकमें दीख पड़ने वाला प्रकाश मानो चैतन्य हो गया है। सूर्यके समान उस प्रकाशमें, जो कि चन्द्रमासे भी शीतल था, एक नीलोज्ज्वल ज्योति आती और चमककर छिप जाती। कभी मुकुट दीख जाता, कभी पीताम्बर, कभी चरणकमलोंकी नखज्योति इस प्रकार चमक जाती कि वह महान् प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता, मानो घने अन्धकारमें बिजली चमक गयी हो। अब मेरा ध्यान प्रकाशकी ओर नहीं जाता, वह तो रूखा मालूम होता। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे केवल उस नीलोज्ज्वल प्रकाशकी ही बाट देखता रहता। मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उसके दर्शनके लिये उत्सुक, व्याकुल और आतुर रहा करता था। एक क्षण भी युग-सा मालूम पड़ता। परन्तु जिस समय वेदना असह्य हो जाती, उस समय वह ज्योति अवश्य ही एक बार नाच जाती थी। इस अनुभूतिके समय भी कृष्ण-कृष्णकी धारा कभी बंद नहीं होती थी।

अब मेरे ध्यानका दूसरा ही रूप हो गया था। जब मैं एकाग्र हो जाता तो इस शरीरकी तो स्मृति नहीं रहती थी; परन्तु एक दूसरा शरीर, जिसकी आकृति इससे मिलती-जुलती थी; परन्तु इन पाञ्चभौतिक तत्त्वों से जिसकी सङ्घटना नहीं हुई थी, जो ज्योतिर्मय और दिव्य था, प्रकट हो जाता। यह प्रकट हुआ है, यह स्मृति भी नहीं रहती; बल्कि मैं यही हूँ, ऐसा अनुभव होता। उस शरीरसे भी कृष्ण-कृष्णका जप होता रहता। मेरे उस हृदयमें भी श्रीकृष्णके लिये छटपटी थी। मेरी आँखें तरसती रहती थीं उन्हें देखनेके लिये। मेरी बाँहें फैली ही रहती थीं उनके आलिङ्गनके लिये। यदि मेरे रोम-रोमका कोई विश्लेषण कर पाता तो देखता कि वे श्रीकृष्णके संस्पर्शकी अभिलाषासे ही गठित हुए हैं। मेरे रग-रगमें एक ही बिजली दौड़ती रहती कि मैं श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अमृतधारा से सराबोर हो जाऊँ।

यह बात नहीं कि उस समय मुझे श्रीकृष्णके दर्शन होते ही न हों, होते थे और बार-बार होते थे। कभी-कभी तो प्रत्येक क्षणके बाद होते थे; परन्तु मुझे उससे सन्तोष नहीं था। वह एक क्षणका विलम्ब मेरे लिये तो कल्पसे भी बड़ा था। वे आते, मैं उन्हें भर आँख देख भी नहीं पाता; वे चले जाते। मैं उनको पहनानेके लिये हाथोंमें माला लेकर खड़ा होता और वे लापता। परन्तु यह बात बहुत दिनों तक न रही। वे आते हँसते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुए। आकर कभी मेरे सिरपर हाथ रख देते और कभी प्रेमसे मुझे चपत लगा देते, मेरा रोम-रोम खिल उठता। आनन्दके आँसू मुझे तर कर देते। मैं उनके चरणोंका स्पर्श करता,

उन्हें माला पहनाता, अपने हाथोंसे उन्हें सुन्दर-सुन्दर फल खिलाता, उनके काले-काले घुँघराले बालोंमें फूल गूँथ देता और हाथमें आरती लेकर उनके सामने नाचते-नाचते मस्त हो जाता, तन-बदन की सुधि नहीं रहती। जब मैं गिर जाता तो अपनेको उनकी गोदमें पाता। वे मुझे जगाते, दुलारते, पुचकारते, प्रेमकी बातें करते और क्या नहीं करते ? मैं उनका था, वे मेरे थे। परन्तु उस समय भी जब मेरी चेतना शरीरोन्मुख होती, तो मैं देखता कि मेरे रोम-रोममें कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि गूँज रही है। सम्पूर्ण वायुमण्डल और आकाशका कोना-कोना उस पवित्र गुञ्जनसे प्रतिध्वनित हो रहा है। एक अनिर्वचनीय रस प्रत्येक वस्तुके अन्तरालसे अबाध गतिसे झर रहा है।

स्थूल दृष्टिसे यह सब मेरे ध्यानकी स्थिति थी। परन्तु उस समय मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरी कोई स्थूलता रहती ही न थी। स्थूल था तो वही, सूक्ष्म था तो वही। कम-से-कम मेरे चित्तमें ऐसी ही बात थी। भगवान्‌का अमृतमय संस्पर्श प्राप्त होता रहे तो स्थूल और सूक्ष्मका प्रश्न ही कहाँसे उठे ? जो हृदयमें भगवान्‌के हृदयका रस नहीं प्राप्त कर सकते, वे ही प्रायः शरीरसे मिलनके लिये जबानी व्याकुलता प्रकट किया करते हैं। जो हृदयमें उस रसकी अनुभूतिसे निहाल होते रहते हैं वे उसको छोड़कर बाहर आयँगे ही क्यों, जिससे कि उन्हें बाहरकी चिन्ता करनी पड़े। मैं उस समय अपनी उस स्थितिमें रसका अनुभव करता था, उसीमें रहना चाहता था। जिस स्थिति या जिस स्थूल शरीरमें आनेपर मैं उससे वञ्चित हो जाता उसमें आनेकी मैं इच्छा ही क्यों करता ? लोगोंकी प्रेरणासे यदि मैं स्थूल व्यवहारमें आता तो क्षण-क्षण अन्तर्जगत्‌का आकर्षण मुझे

वहीं जानेके लिये खींचता रहता। बाहरका काम समाप्त होते ही मैं वहाँ पहुँच जाता।

एक दिन मैं गङ्गास्नान करके लौट रहा था, रास्तेमें पलाशके विशाल जंगलको देखकर इच्छा हुई कि वहाँ जायँ। मैं एक छोटे-से वृक्षकी मनोहर छायामें बैठ गया। जाड़ेका दिन था। उतने सवेरे वहाँ कौन आता? एकान्त इतना था कि वायुमण्डलकी सन-सन आवाज़ आ रही थी। मैंने स्वस्तिकासनसे बैठकर हाथोंको गोदमें रखा और आँखें बन्द करके कृष्ण-कृष्णकी ध्वनिपर तनिक जोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बन्द रहना नहीं चाहतीं। एक शक्तिमान् प्रकाश पलकोंकी दीवार लांघकर आँखोंके तारोंमें घुसा जा रहा था और मैं बल लगानेपर भी आँखोंको बंद करनेमें असमर्थ था। आँखें खुलीं तो देखा, न वहाँ जंगल है, न वह वृक्ष है, जिसके नीचे मैं बैठा था और जिसकी स्मृति अभी ताजी थी। चारों ओर एक घना प्रकाश फैला था और उसके बीचमें मैं ज्यों-का-त्यों स्वस्तिकासनसे बैठा हुआ था! मैंने सोचा—शायद यह मेरे मनकी ही लीला हो। मैंने फिर आँखें बंद करनेका प्रयत्न किया; परन्तु मेरी पलकें टस-से-मस नहीं हुईं। विवश होकर मैंने सामने देखा—पृथ्वीसे करीब एक हाथ ऊपर एक त्रिभुवनसुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौरवर्ण था, फूलोंकी ही कछौटी थी, फूलोंका ही मुकुट, हाथों और चरणोंमें भी फूलोंके ही दिव्य आभूषण थे, साथ ही मुकुटपर मयूरपिच्छ था, और दोनों हाथोंमें बांसुरी थी, जो अधरोंसे लगी हुई थी और जिसकी सुरीली आवाज़ मेरे प्राणोंमें प्रवेश कर रही थी। देखकर मैं चकित हो गया। बांसुरी और मयूरपिच्छसे

स्पष्ट हो रहा था कि ये श्रीकृष्ण हैं। मनने कहा—वे तो श्यामसुन्दर हैं, ये गौरसुन्दर कहाँ से ? मैंने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग लोट जाना चाहा; परन्तु मेरा शरीर जड़ हो गया था, वह हिल तक नहीं सका। मैंने बोलकर अपने मनका भाव उनपर प्रकट करना चाहा; परन्तु मुँह खुला ही नहीं। मैंने हाथ जोड़नेकी चेष्टा की; परन्तु हाथ अपने स्थानसे उठे नहीं। हृदय आनन्दित था, शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंमें आँसू थे। मैं केवल देख रहा था उनको और वे मुस्कराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर नाचते हुए, ऊपर-ही-ऊपर कभी दायें, कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे। मैं केवल देख रहा था। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया !

उन्होंने अपना मौन तोड़ा, मेरे कानोंमें मानो अमृतकी धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले—'मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ। मैं अपनी लाड़िलीका ध्यान करता रहता हूँ न ? तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो, केवल इस समय, केवल इस रूपके साथ। यह सम्पूर्ण जगत्, जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो, यह मेरी लीला-भूमि है। इसके एक-एक कणमें मेरी रासलीला हो रही है और यह सब मेरा और मेरी प्रियाका ही रूप है। तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारणके रूपमें देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि-दोष है। तुम पूर्वको पश्चिम क्यों समझ रहे हो ? तुम मुझको जगत् क्यों समझ रहे हो ? यह सब मेरे युगलरूपकी क्रीड़ा है। जिसे जगत्के लोग उत्कृष्ट अथवा निकृष्टरूपमें देखते हैं, उसके भीतर, उसके गुह्यतम प्रदेशमें, जहाँ उनकी आँखें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ मेरी अनादि और अनन्त रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी, एकरस, रासलीला हो रही है।' भगवान् चुप हो गये। मेरी

आँखें जिधर जाती थीं, युगल सरकार और उनको घेरकर नाचती हुई सखियाँ ही दीखती थीं। अपना शरीर, जगत्, एक-एक सङ्कल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीलासे परिपूर्ण हो रही थीं। न जाने कितनी देर तक यही लीला देखता रहा। अन्तमें मैंने देखा—युगल सरकार मेरे सामने खड़े हैं और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। जब मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये झुका तो स्पर्श करते-न-करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जंगलमें, उसी वृक्षके नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोमसे कृष्ण–कृष्णकी गम्भीर ध्वनि निकल रही है। जब मेरी आँखोंने चकित होकर कुछ दूर तक देखा तो सामनेसे गेरुए वस्त्रसे अपना शरीर ढके हुए, हाथमें कमण्डलु लिये परमहंसजी आ रहे थे!

एतावान् एव !

श्रीमद्भागवत स्वयं ही सार-ग्रन्थ है । भगवत्स्वरूप होनेके कारण इसके किसी भी अंशमें कुछ भी त्याज्य नहीं है । यदि इसके किसी अंशमें किसीको कुछ त्याज्य प्रतीत होता है तो वह उसकी दृष्टिका दोष है, जैसे भगवान् श्यामसुन्दरके परम सुकुमार श्रीविग्रहमें कंसको केवल अपनी मृत्यु ही दीख रही थी । ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवतसे कुछ थोड़ा-सा संग्रह करके यह कह देना कि इतना ही भागवतका सार है, साहसमात्र है। फिर भी श्रीमद्भागवतमें कुछ बातोंका उल्लेख करके स्पष्ट कह दिया गया है कि इसका तात्पर्य बस इतना ही है । इसके लिये मूलके अनेक स्थानोंमें 'एतावानेव' पदका प्रयोग हुआ है । उन्हें ही यहाँ नमूनेके तौरपर उद्धृत किया जाता है—

(१)

जीवका परम कल्याण क्या है ?

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥

(२ । ३ । ११)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥

(३ । २५ । ४४)

पहले श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जो लोग अपने परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हैं उनके परम कल्याणका उदय बस, इतना ही है कि भगवान्‌में उनकी भाव-भक्ति अविचल हो जाय। इसका साधन बतलाया गया है—भगवान्‌के प्यारे भक्तोंका सङ्ग अथवा श्रीमद्भागवतका स्वाध्याय। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त साधनाओंका लक्ष्य चाहे वे क्रियाके रूपमें हों चाहे भावनाके रूपमें, स्वयं श्रीभगवान् ही हैं। उनमें अचल स्थिति या निष्ठा हो जाना ही प्रयत्नकी परिसमाप्ति है। इस युगमें जब कि समष्टिमें ही घोर रजोगुण और तमोगुणका प्रवाह प्रबल हो रहा है, सुगम-से-सुगम और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन भी सत्सङ्ग ही है। यदि सन्तोंकी पहचान न हो, उनके सङ्गकी सुविधा न हो तो श्रीमद्भागवत शास्त्रका स्वाध्याय भी परम कल्याणके उदय और भक्तिभावकी स्थिरतामें सत्सङ्ग-जैसा ही सहायक है। यह सबके लिये सुगम और निरापद भी है। अपने अधिकारके अनुसार इनकी शरण ग्रहण करना चाहिये। दूसरे श्लोकमें केवल साधकोंके लिये ही नहीं, समस्त जीवोंके लिये ही, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, परम कल्याणका निर्देश है। परन्तु उनके लिये साधनाके लिये तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यह निश्चित है कि अपना सम्पूर्ण जीवन चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, भगवान्‌को समर्पित कर देना होगा। बिना आत्मसमर्पणके अभिमानी जीव कभी शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। समर्पण भी ऐसा जो स्थिर हो, जिसके बाद कभी अहङ्कारका उदय न हो। ऐसा आत्मसमर्पण भगवान्‌के आज्ञा-पालनरूप तीव्र भक्तियोगके

अनुष्ठानसे ही सम्भव है। यही बात दूसरे श्लोकमें समस्त जीवोंके परम कल्याणके नामसे कही गयी है।

(२)

जीवका धर्म क्या है ?

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥
(६।१०।६)

एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते।
(४।२७।२६)

एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्।
(८।७।२८)

एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्।
(६।५।४४)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(६।३।२२)

एक शरीर और उसके सम्बन्धियोंमें क्रमशः अहंता और ममता करके जीवने स्वयं ही अपने-आपको संसारबन्धनमें जकड़ लिया है। अब धर्मका काम यह है कि जीवकी अहंता और ममताको शिथिल करके उसे संसारके बन्धनसे सर्वदाके लिये छुड़ा दे। ऐसे धर्मको ही अविनाशी धर्म कहते हैं और जगत्के परम यशस्वी महात्मा उसीका अनुष्ठान करते रहे हैं। उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि केवल

अपने सुखसे फूल न उठे और अपने ही दुःखसे मुरझा न जाय। समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखके साथ अपना नाता जोड़ दे। सबके सुखमें सुखी हो और सबके दुःखमें दुःखी। इससे अहंकारका बन्धन कटता है और ममता भी शिथिल पड़ती है। यही बात पहले श्लोकमें बतलायी गयी है। परंतु इतना ही धर्म नहीं है। धर्मकी गति इससे आगे भी है। बहुत-से पशु भी दूसरोंके सुखसे सुखी और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं, परन्तु मनुष्य अपनेको सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ मानता है। इसलिये उसमें कुछ विशेषता होनी चाहिये। वह विशेषता क्या है ? बस, इतनी ही कि किसीको दुःखी देखकर उसका हृदय दयासे द्रवित हो जाय और वह उसके प्रति सहानुभूतिके भावसे भर जाय। यद्यपि सहानुभूति भी एक बहुत बड़ा बल है, इससे दुःखियोंको बड़ी शक्ति प्राप्त होती है, तथापि जो कुछ प्रत्यक्ष सहायता कर सकते हैं, उनकी ओरसे केवल मानसिक या वाचनिक सहायता प्राप्त होना ही पर्याप्त नहीं है। उनकी प्रभुता या ऐश्वर्यकी सफलता इसीमें है कि वे तन, मन, धनसे दीनोंकी रक्षा करें। जो सामर्थ्य होनेपर भी दीन-दुःखियोंकी रक्षाका कार्य नहीं करते, उनका सामर्थ्य व्यर्थ है; उन्होंने अपने धर्मका पालन न करके पाप कमाया।

श्रीमद्भागवतमें यह बात स्थान-स्थानपर बहुत ही जोर देकर कही गयी है कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्वयं परमात्माका ही निवास है, इसीलिये यथाशक्ति दान और सम्मानके द्वारा सभीकी पूजा करनी चाहिये। इस सम्बन्धमें यहाँतक कहा गया है कि जो दुःखी प्राणियोंकी उपेक्षा करके अथवा किसी भी प्राणीसे द्वेषभाव रखकर केवल सूखे पूजा-पाठमें लगे रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल

सकती और न तो उन्हें परमात्माकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो सकती है (देखिये तीसरे स्कन्धका उन्तीसवाँ अध्याय)। चौथे स्कन्धमें तो इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि चारों वेदोंका ज्ञाता और समदर्शी महात्मा भी यदि दीन-दुःखियोंकी उपेक्षा करता है तो उसका सारा वेदज्ञान नष्ट और निष्फल हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे फूटे घड़ेसे पानी बह जाता है। जो लोग सांसारिक सम्पत्ति और ऐश्वर्यको अपना मानकर अभिमानसे फूले हुए हैं और दीन-दुःखियोंकी सहायता नहीं करते, उन्हें श्रीमद्भागवतके इस वचनपर ध्यान देना चाहिये—

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
> मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
> आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥
>
> (७।१४।८-९)

'मनुष्योंका अपनी सम्पत्तिपर उतना ही हक़ है जितनेसे उनका पेट भर जाय। जो इससे अधिक अपना मानते हैं, वे चोर हैं और दण्डके पात्र हैं। हरिण, ऊँट, गदहा, वानर, चूहा, रेंगनेवाले कीड़े, पक्षी, मक्खी—और तो क्या, सभी प्राणियोंको अपने पुत्रके समान ही देखना चाहिये। भला! अपने पुत्रोंमें और इनमें अन्तर ही कितना है!' यह उपदेश गृहस्थोंके लिये है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वे जैसे स्वयं भोजन करते हैं, वैसे ही सबके भोजनका ध्यान रक्खें। जैसे अपने शरीर और पुत्रके शरीरके कष्टसे पीड़ित होते हैं और उसका उपचार करते हैं, वैसे ही दूसरोंके लिये भी करें।

इतना ही नहीं, श्रीमद्भागवतके ऊपर उद्धृत चौथे श्लोककी अर्धालीमें तो यह बात कही गयी है कि प्रशंसनीय तो यह है कि अपने कष्टोंको मिटानेकी क्षमता होनेपर भी उन्हें सहन करे। अर्थात् स्वयं दुःख सहन करके दूसरोंका दुःख मिटावे, अपनी इच्छा अपूर्ण रखकर दूसरेकी इच्छा पूर्ण करे। यह सत्य है कि इससे अपनी साम्पत्तिक पारिवारिक और शारीरिक हानि होनेकी सम्भावना है; परन्तु उस लाभके सामने, जो इससे स्वयं होता है, कुछ भी नहीं है। क्योंकि हानि तो होती है केवल सांसारिक पदार्थोंकी और लाभ होता है परमार्थका। जो मनुष्य सर्वस्व त्यागकर और कष्ट उठाकर दूसरोंका भला करता है, उसे त्याग, वैराग्य सहिष्णुता, तितिक्षा, श्रद्धा, विश्वास, समता आदि आदर्श सद्गुण स्वयं ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि सम्पन्न होती है और मनुष्य अपने धर्मपालनके द्वारा परमकल्याणका अधिकारी होता है।

यह तो हुई सामान्य धर्मकी वात। एक परम धर्म भी है, जिसका सङ्केत पूर्व उद्धृत पाँचवें श्लोकमें किया गया है। एक तो कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म मिलना ही कठिन, दूसरे मनुष्यका जन्म। मनुष्यका जन्म प्राप्त करके अपने धर्मका पालन करना और भी दुर्लभ है। परम धर्मका तो ज्ञान भी बड़े सौभाग्यसे होता है, वह श्रीमद्भागवतमें सुनिश्चितरूपसे बतलाया गया है। ब्रह्माजी बार-बार शास्त्रोंका आलोड़न करके इसी निश्चयपर पहुँचे कि समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य भगवान्‌के निरन्तर स्मरणमें ही है। स्मरणका स्वरूप क्या है? जैसे गङ्गाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती है, जैसे तेलकी धारा अविच्छिन्नरूपसे एक पात्रसे दूसरे पात्रमें जाती है, वैसे ही विना

किसी फलका अनुसन्धान किये चित्तवृत्तियाँ नित्य-निरन्तर भगवान्को ही विषय करती रहें, उन्हींके चिन्तनमें तन्मय रहें—यही है भक्तियोगका स्वरूप । इसे ही उपर्युक्त श्लोकमें परम धर्मके नामसे कहा गया है। इसका साधन क्या है ? सभी शास्त्रोक्त साधन हैं । अभी-अभी जिस धर्मपालनकी चर्चा की गयी है, उसका पर्यवसान भी इसीमें है। परन्तु उन समस्त साधनोंमें सबसे श्रेष्ठ है—भगवान्के नामोंका जप, कीर्तन, अर्थचिन्तन । वृत्तियोंको निरन्तर भगवान्में लगाये रखनेके लिये इससे सरल कोई साधन नहीं है। इस प्रकार इस प्रसंगमें मनुष्यके लिये धर्म, परम धर्म और उसके साधनका संक्षेपमें निर्देश किया गया है।

(३)

योग क्या और किसलिये ?

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥
(११।१३।१४)

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥
(३।३२।२७)

भगवान् श्रीकृष्ण योगका बस, इतना ही स्वरूप बतलाते हैं कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् भगवान्में प्रविष्ट कर दिया जाय । मनको लगानेका उपाय चाहे कोई भी हो, जीवोंका मन स्वभावसे ही जड़ विषयोंकी ओर ही दौड़ता है और उन्हींमें लगता

भी है। यदि योग-साधनाके द्वारा भी मनको जड़ विषयोंमें ही लगाया गया तो सारा प्रयास व्यर्थ ही समझना चाहिये। सविकल्प समाधिपर्यन्त जितनी भी स्थितियाँ हैं, सब-की-सब कुछ-न-कुछ जड़ता लिये हुए हैं। योगकी रीतिसे निर्विकल्प स्वरूपसे अवस्थान ही अखण्ड निर्विकल्प समाधि है और वास्तवमें वही विशुद्ध चेतनकी स्थिति भी है। कर्मयोगसे, अष्टाङ्गयोगसे, भक्तियोगसे अथवा ज्ञानयोगसे वही स्थिति प्राप्त करनी है। भगवान्‌के निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार स्वरूपकी अनुभूति किसी भी जड़ स्थितिमें नहीं होती, उसके लिये विशुद्ध चेतनकी स्थिति अनिवार्य है। जीव और भगवान्‌का उसी स्थितिमें वास्तविक मिलन होता है, इसलिये उसे योगके नामसे कहते हैं।

दूसरे श्लोकमें समग्र योगका उद्देश्य बतलाया गया है। योगके द्वारा होता क्या है? समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत्से असङ्गता। सङ्ग ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यह प्रकृति और प्राकृत पदार्थ मैं हूँ, अथवा यह मेरे हैं, यही संगका स्वरूप है। इस बातको तनिक स्पष्ट समझ लेना चाहिये। व्यवहारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं। एक तो प्राकृतिक और दूसरे प्रातीतिक। उदाहरणके लिये पृथ्वीको लीजिये। पृथ्वी एक प्राकृतिक पदार्थ है। यह केवल प्रकृतिकी है अथवा भगवान् की है। यह न किसीके साथ गयी और न जायगी, फिर भी लोग इसे अपनी मान बैठते हैं और बड़े अभिमानके साथ कहते हैं कि इतनी पृथ्वी मेरी है। यह मेरेपनकी भावना नितान्त प्रातीतिक है और यही समस्त दुःखोंका मूल भी है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मन आदिके सम्बन्धमें भी

समझना चाहिये। इनके प्रति अहंता-ममता जोड़ लेना ही सङ्ग है। जब योगके द्वारा बहिर्मुखता घटती है और अन्तर्मुखताकी वृद्धि होती है, तब स्वयं ही बाह्य पदार्थोंसे आसक्ति छूटने लगती है और अन्ततः विशुद्ध चित्स्वरूप एवं असङ्ग आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है। जबतक असङ्गता प्राप्त नहीं होती, तबतक योगका लक्षण अपूर्ण ही समझना चाहिये। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें अन्तर्मुखताकी सीमा तो भगवान्में मनका लग जाना बतलाया है और योगका स्वरूप बतलाया है—समस्त प्रकृति और प्राकृत सम्बन्धोंसे अलग हो जाना।

(४)

जीवका परम स्वार्थ और परमार्थ क्या है ?

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥
(६।१६।६२)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥
(७।७।५५)

जिन मनुष्योंकी बुद्धि योगमें निपुणता प्राप्त कर चुकी है, उनके लिये सब प्रकारसे बस इतना ही अपना स्वार्थ और परमार्थ है कि वे अपनी आत्मा और परमात्माके एकत्वका साक्षात्कार करें। पहले यह बात कही जा चुकी है कि योग अन्तर्मुखताकी सीमा है। अन्तर्मुख हो जानेपर बाह्य विषयोंमें किसी प्रकारकी दिलचस्पी नहीं रह जाती और न तो

उनका चिन्तन ही होता है। उस समय जितनी भी वृत्तियाँ उठती हैं, सब अन्तःस्थित वस्तुके सम्बन्धमें ही। अन्तर्देशके गुह्यतम प्रदेशमें जो वस्तु है, वह क्या है ? उसे आत्मा कहें या परमात्मा ? यह प्रश्न ही उस समय उठता है जिस समय अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख और शुद्ध हो जाता है। जब उपर्युक्त प्रश्न उठता है तो मैं कौन हूँ और परमात्मा क्या है, दोनोंमें क्या अन्तर है—इन प्रश्नोंका ऐसा विशुद्ध समाधान प्राप्त होता है कि जो अबतक अपनेको जीव समझकर अपनेको नाना संकटोंका घर समझे रहता है, वह अनिर्वचनीय एवं आश्चर्यमय स्थितिमें पहुँच जाता है। अनादि कालका अज्ञान मिट जाता है और फिर कुछ बोलने और सोचनेका कोई अवसर ही नहीं रहता। यह परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और यही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है।

दूसरे श्लोकमें यही बात दूसरे ढंगसे कही गयी है। जीवका परम स्वार्थ क्या है ? भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति। भक्तिका अर्थ विभक्ति नहीं है, समस्त विभक्तियोंका मिट जाना ही सच्ची भक्ति है। एक कवि कहता है—'प्रेमी और प्रियतमके मिलनमें वक्षःस्थलपर स्थित माला भी पर्वतसे भी बड़ा व्यवधान है।' भक्त और भगवान्के बीचमें किसी भी प्रकारका आवरण—चाहे वह कितना भी झीना क्यों न हो अभीष्ट नहीं है। आखिर वह कौन-सा ऐसा रहस्य है, जिसे प्रियतम प्रभु अपने प्रेमीसे छिपाकर रख सकते हैं। प्रेमके सामने सारे पर्दे फट जाते हैं, सारी दूरी समीपतामें परिणत हो जाती है। इसीसे अनन्य भक्तिस्वरूप का

निर्देश करते समय यह बात कही जाती है—'**यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।**' भगवान्की अनन्य भक्ति है सर्वत्र उन्हें देखना। 'सर्वत्र' शब्द बड़ा व्यापक है। अपनेमें, परायेमें, निद्रामें, जागरणमें, ब्रह्ममें और प्रकृतिमें—जहाँ दृष्टि जाय, जो दिखे, वहीं, उसीमें, अधिक तो क्या, उसीके रूपमें भगवान्का दर्शन ! यही जीवनका सबसे बड़ा स्वार्थ अथवा परमार्थ है।

(५)

अज्ञान और ज्ञानका स्वरूप

एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥

(११।२८।३६)

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

(२।९।३५)

पहले श्लोकमें अज्ञानका स्वरूप बतलाया गया है। कहते हैं कि अद्वितीय आत्मस्वरूपमें जो विविधताका संकल्प है, यह मनका मोह है। क्योंकि आत्माको छोड़कर उस विविधताके सङ्कल्पके लिये भी कोई दूसरा अवलम्ब नहीं है, यही विविधताकी भावना अद्वितीय स्वरूपके अज्ञानसे है। अज्ञान किसे है, किसमें है—यह प्रश्न इस बातको मानकर उठता है कि अज्ञानकी सत्ता है। परन्तु अज्ञानकी सत्ता भी तभीतक मानी जाती है, जबतक अपने आश्रय और विषयके सहित अज्ञानके स्वरूपका बोध नहीं होता। अज्ञान ज्ञात होनेपर तो

अज्ञान रहता ही नहीं, ज्ञान हो जाता है और जहाँतक वह स्वयं अज्ञात है वहाँतक यह प्रश्न बनता ही नहीं कि वह किसमें है, किसे है ? ऐसी अवस्थामें अज्ञानका स्वरूप क्या है, तत्त्वदृष्टि करानेके लिये एक अध्यारोपमात्र ! इसीलिये वह किसीको नहीं है, किसीमें नहीं है; क्योंकि अध्यारोपित वस्तुसे किसीका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु यह यथार्थ उक्ति तो अज्ञानपर लगायी हुई सारी व्यवस्थापर ही पानी फेर देती है। यह भी अभीष्ट ही है। फिर भी उसे अविर्वचनीय स्वीकार कर लिया जाता है। 'अनिर्वचनीय' शब्दका अर्थ अज्ञेय नहीं है। जिसका मन और वाणीके द्वारा 'इदन्तया' निर्वचन नहीं किया जा सकता, वही अनिर्वचनीय है। तब वह 'अनिदं' है अर्थात् 'अहं' है—स्वरूपसे अभिन्न है। ज्ञान और अज्ञान सब कुछ स्वरूप ही है—यही बात जाननेकी है। दूसरे श्लोकमें यही कहा गया है।

जो आत्मतत्त्वके जिज्ञासु हैं, उन्हें बहुत-से विषयोंका ज्ञान नहीं प्राप्त करना है। उन्हें तो केवल एक ऐसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है, जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहती है। यह जाननेका साधन क्या है ? अन्वय और व्यतिरेक। आकाशके रहनेपर ही पृथ्वीका अस्तित्व है—यह अन्वय है। आकाशके न रहनेपर पृथ्वी भी नहीं रह सकती। परन्तु पृथ्वीके न रहनेपर भी आकाश तो रहता ही है—यह व्यतिरेक है। आत्मसत्ताके रहनेपर ही अनात्म पदार्थोंकी सत्ता रह सकती है, परन्तु अनात्म पदार्थोंकी सत्ता न रहनेपर भी आत्मपदार्थकी सत्ता तो रहती है। तब सत्ता केवल आत्माकी—परमात्माकी है। अनात्मपदार्थ केवल प्रतीतिमात्र, सर्वथा मिथ्या हैं।

तब यही सर्वत्र और सदा तथा उनकी सीमासे परे भी रहने वाली आत्मसत्ताका स्वरूप ही तत्त्वजिज्ञासुके ज्ञानका स्वरूप है। न इसमें ज्ञातृज्ञेय सापेक्ष ज्ञान ही है और न तो आश्रय—आश्रयीभाव रखनेवाला अज्ञान ही। इस सत्तामात्र निर्विशेष चैतन्यमें मन और वाणीसे निर्वचन करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। वही आत्मा है वही मैं हूं। उसको अपने-आपके रूपमें न जानना ही अज्ञान है। और जो इस अज्ञानको मिटा दे वही ज्ञान है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'अज्ञान' शब्दोंका कोई अर्थ नहीं है।

(६)

समस्त वेदोंका तात्पर्य

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति ॥

(११।२१।४३)

वेदोंमें कहीं किसी कर्मका विधान है तो कहीं देवता आदिके विभिन्न नामोंका उल्लेख है, कहीं आकाशादि विविध सृष्टिका वर्णन है तो कहीं उनका निषेध भी है—यह सब क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि कर्मोंके रूपमें मेरा ही विधान है। देवताओंके नामोंके रूपमें मेरे ही नामोंका गान है। आकाशादि विविध सृष्टिके रूपमें मेरा ही वर्णन है और उनके निषेध तथा निषेधकी अवधिके रूपमें भी मेरा ही वर्णन है। तब समस्त वेदोंका तात्पर्य क्या है? इस प्रश्नका सीधा उत्तर होता है--स्वयं परमात्मा। ऊपर उद्धृत श्लोकमें इस बातका स्पष्ट निर्देश है। सारे वेदोंके तात्पर्य हैं--भगवान्। वेद उन्हीं परमार्थस्वरूप परमात्माका आश्रय लेकर कहता

है—दीखनेवाला भेद सर्वथा मायामात्र है। नानात्व कुछ नहीं है, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है। इस प्रकार अशेष-विशेषोंका निषेध करके वेद अपना काम बन्द कर देता है, स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वेद-स्तुतिके अन्तमें भी यही बात कही गयी है— **'अतन्निरसनेन भवन्निधनाः।' 'नेह नानास्ति किञ्चन'**, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूपसे परमात्मामें ही पर्यवसित होती हैं।

इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धके पाँचवें अध्यायमें श्री शुकदेवजी महाराजने राजर्षि परीक्षितको अन्तिम उपदेश किया है:—

> **अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।**
> **एवं समीक्षन्नात्मानं आत्मन्याधाय निष्कले॥**

इत्यादि।

प्रत्यक्चैतन्य और ब्रह्म दोनोंका मुख्य सामानाधिकरण्य है। जगत् और ब्रह्मका बाधसामानाधिकरण्य है। इसलिये ब्रह्म अविनाशी परिपूर्ण अखण्ड आत्मसत्ता ही है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है। यह श्रुतियोंका सार-सार अंश है। जैसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य एकमात्र परमात्मामें ही है, वैसे ही श्रीमद्भागवतका भी। इसका वास्तविक रस तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसके मूलका स्वाध्याय करनेसे प्राप्त होता है। भगवान् हमलोगोंको इसके मूलके स्वाध्यायमें लगायें, उसका रस लेनेकी योग्यता दें।

★

मधुर ब्रह्म

सर्वान्तर्यामी, सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका भागवतके साथ क्या सम्बन्ध है—यह बात पद्मपुराणवाले माहात्म्यमें तीन प्रकारसे बतलायी गयी है। एक तो यह कि श्रीमद्भागवत क्षीरसागर है और भगवान् श्रीकृष्ण इसके पद-पद, अक्षर-अक्षरमें अव्यक्त अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं—'**तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्**।' दूसरी यह कि श्रीमद्भागवत भी भगवान् श्रीकृष्णके समान ही अनिर्वचनीय महिमासम्पन्न है—'गौरवेण इदं महत्।' अनिर्वचनीय महिमा सबसे अतीत होती है। वक्ता, वचन और वाच्यका भेद उसमें नहीं हुआ करता। अनिर्वचनीय वस्तु 'इदम्' पदसे निर्वचनीय न होनेके कारण स्वरूपभूत ही होती है। तीसरी बात यह है कि श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णकी ही मूर्ति है—'तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।' इन तीनों सम्बन्धोंपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप भागवतान्तर्यामी, भागवतातीत और भागवतरूप है। इस दृष्टिसे श्रीमद्भागवतके पद-पदमें, अक्षर-अक्षरमें भगवान् श्रीकृष्णके त्रिविध स्वरूपका साक्षात्कार होता है। अवश्य ही यह बात केवल पदज्ञानसे नहीं होती, इसके लिये पर्याय शब्दोंसे कोई सहायता नहीं मिलती; यह बात होती है पदके वाच्यार्थका ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर, लक्ष्यार्थका इङ्गित समझ लेनेपर। फिर तो भागवतके घट, पट, मठ आदि शब्दोंके अर्थके रूपमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपलब्धि

होती है और भागवतमें कहीं भी किसी हेयांशका प्रकरण नहीं मिलता। यही बात भागवतको 'रसम्' कहकर सूचित की गयी है।

ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवतके अमुक प्रकरणमें ही भगवान् श्रीकृष्णकी लीला है, यह कहना नहीं बनता। भागवतका सब कुछ श्रीकृष्णकी ही लीला है। उसका प्रकाश कहीं व्यक्तरूपसे है और कहीं अव्यक्तरूपसे। जहाँ अव्यक्तरूपसे है, वहाँ भी सहृदय लोगोंके लिये सङ्केत विद्यमान है। ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, दैत्य, देवता और सभी पदार्थोंको स्थान-स्थानपर भगवत्स्वरूप बतलाकर भावुक भक्त और तत्त्वज्ञके लिये इस बातका स्पष्ट सङ्केत कर दिया गया है कि जहाँ जिस रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण अपना ऐश्वर्य गुप्त रखकर विहार कर रहे हैं, वहाँ भी वे उन्हें पहचान जायँ।

भगवान्की लीलाओंमें यदि लीलाके लिये ही सरस, सरसतर और सरसतमका लीलाभेद किया जाय तो कहना पड़ेगा कि दशमस्कन्धमें वर्णित लीला अत्यन्त सरसतम है। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये लीला और चरित्रका सूक्ष्म अन्तर जान लेना भी आवश्यक है। चरित्रका एक उद्देश्य होता है। उसमें कर्तृत्वका भी कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, चाहे वह बाधितानुवृत्तिसे ही क्यों न हो। चरित्रमें चाहे कर्ताकी भावनासे और चाहे लोगोंकी भावनासे जगत्के हितका उद्देश्य समाविष्ट रहता है। परन्तु लीला भगवान्की मौज है। वह केवल लीलाके लिये है। अबतक ऐसा कोई माईका लाल नहीं हुआ, जो अन्तर्यामीके समान भगवान्के हृद्गत संकल्पको जानकर यह कह दे कि उन्होंने इस उद्देश्यसे, इस

प्रयोजनसे यह लीला की है। वे कर्ता होकर भी अकर्ता और भोक्ता होकर भी अभोक्ता हैं। इसीसे लोग लीलाका प्रयोजन सोचने जाकर लीलाका स्वरूप भूल जाते हैं और उन्हें अपने जैसा ही मानवचरित्र सूझने लगता है। भगवान्की लीला हो रही है; वह सहज है, स्वाभाविक है। उसमें न उद्देश्य है, न प्रेरणा है, न भूत—भविष्यत्का विभाग है और न तो वर्तमानकी ही वहाँतक पहुँच है। जो उसे जानेंगे, मानेंगे उसका रस लेंगे, भगवान्से एक हो जायँगे। यदि कोई उनकी लीलाओंको भी प्रयोजनसे प्रेरित, कर्म-बन्धनसे विजड़ित कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे मर्यादित समझनेकी भूल करेंगे वे स्वयं स्वरूपसे च्युत होकर जगज्जालमें जकड़ जायँगे। भगवान्की लीला अनादि है, अनन्त है, एकरस है, स्वरूप है, उसमें न क्रिया है, न सङ्कल्प है, न स्पन्दन है, न प्रथम-द्वितीय-तृतीय, तुरीय आदिका भेद है; वह लीला है, इसलिये ज्यों-की-त्यों लीला है।

भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित एक-एक लीला किसी-न-किसी रूपमें भगवान्की भगवत्ता प्रकाशित करती है। यद्यपि उनके होनेका उद्देश्य ऐसा करना नहीं है, वे तो सहज स्वाभाविकरूपसे ही होती रहती हैं, फिर भी यह भगवत्ताका प्रकाश भक्तोंको स्पष्ट दीख पड़ता है और वे उसका रस भी लेते हैं। यह बात तनिक ध्यानसे दशम स्कन्धका पारायण करनेपर स्वयं अनुभवमें आ जाती है। दैत्योंके उद्धारमें जो ऐश्वर्य व्यक्त होता है, वह बहुत स्पष्ट है; फिर भी हम उसे ऐश्वर्य न मानकर माधुर्य ही मानते हैं। इसका कारण यह है कि जिनके संकल्पमात्रसे ही अखिल ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि और संहार सम्पन्न होते हैं, उनके लिये किसी दैत्यको मारनेमें युद्ध

करनेकी वात ऐश्वर्यसूचक नहीं होती । पूतनाके स्तनका विष पी लेना उनके लिये कोई कठिन वात नहीं है । चतुर्भुजरूपमें प्रकट होना भी उनके वात्सल्यका ही उदाहरण है । वे जो कुछ करते हैं, नहीं करते, सब खेल है, स्वाभाविक है । इसी दृष्टिसे हम एक वार उनकी लीलाका स्वाध्याय करें ।

जो सर्वस्वरूप है, उसका एकरूपमें और एक कालमें प्रकट होना ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति और गोपन दोनों ही है । अपने ही अंशभूत ब्रह्माको मोहित करना, वाणासुरके युद्धमें शिवको पराजित करनेके लिये अस्त्र-प्रयोग करना और अपने सौन्दर्यसे महाविष्णुको भी आकर्षित करके उनके द्वारा अपनेको बुलवानेका उद्योग कराना इस वातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे ऐश्वर्यमें इनसे वढ़े हुए हैं । फिर भी इस लीलासे तो उनकी मधुरता ही प्रकट होती है । अनेक वछड़ों, ग्वालवालों और अन्तमें आवरणसहित अनेक ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि कर देना, उनके रूपमें परिणत हो जाना इस वातकी स्पष्ट सूचना है कि ब्रह्माकी सृष्टि-शक्ति उनका ही एक अंश है । वरुणके द्वारा पूजा, इन्द्रके द्वारा अभिषेक और रासलीलाके प्रसङ्गमें चराचरविजयी कामदेवका पराजय भी ऐश्वर्यके साथ ही उसका गोपन भी लिये हुए है । उनकी लीलामें यह कैसी विचित्रता है कि जो गोपियाँ कुछ ही क्षण पहले कह रही थीं कि 'आपके चरणोंकी धूलि लक्ष्मीके लिये भी वाञ्छनीय है' वही उनकी मधुरतासे सरावोर होकर कहने लगीं कि 'यहाँ उस कामीने अपनी प्रेयसीको कंधेपर ढोया होगा ।' जो प्रलयके समय रुद्रशक्तिके रूपमें सारे जगत्को भस्म कर डालते हैं, वही प्रभु यदि कंसके धोवीको अपने हाथसे मारते हैं तो यह वात

समझमें नहीं आती कि वे इस लीलाके द्वारा ऐश्वर्यका प्रकाशन कर रहे हैं अथवा गोपन। अपनी दृष्टिमें तो अवश्य ही यह मधुर-से-मधुर ऐश्वर्य-गोपन-लीला है। विष्णुशक्तिकी प्रधानता व्यक्त करनेके लिये तो इतनी अधिक लीलाएँ हुई हैं, जिनकी गणना भी कठिन है। परन्तु इस रूपमें अपनेको व्यक्त करना भी छोटे रूपका ही अभिनय है। सम्राट् यदि मन्त्री, सेनापति अथवा सिपाहीका अभिनय करता है तो यह उसकी मौजके अतिरिक्त और क्या है? क्या इन्द्रकी वर्षासे व्रजको बचानेके लिये सात दिनतक गोवर्धनको उठाये रखनेकी आवश्यकता थी? इस प्रकार प्रत्येक लीलामें अन्तरङ्गभावसे प्रवेश करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐश्वर्य और उसके अभावके एकमात्र अधिष्ठान हैं भगवान् श्रीकृष्ण; उनके लिये सब समान है, चाहे जो कुछ करें या न करें। यह बात युधिष्ठिरके वचनोंसे और भी स्पष्ट हो जाती है—

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः॥

(१०।७४।४)

'जैसे उदय अथवा अस्तके कारण सूर्यके तेजमें घटती या बढ़ती नहीं होती, वैसे ही किसी भी प्रकारके कर्मोंसे न तो आपका उल्लास होता है और न ह्रास ही; क्योंकि आप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं।'

इसका अर्थ यह नहीं कि ऐश्वर्य और अनैश्वर्य दोनोंके अधिष्ठान भगवान् श्रीकृष्णका धर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें

धर्मके अनुष्ठान और उसके अभाव भी भगवान् श्रीकृष्णमें ही हैं। उनकी लीलामें स्थान-स्थानपर धर्मकी अभिव्यक्ति हुई है। उनकी दिनचर्या ही देखिये, जागनेसे लेकर सोनेतक धर्मके काममें ही लगे हुए हैं। वे यज्ञ करते थे, दान करते थे, कुब्जा-जैसी स्त्रियोंका भी दयावश उद्धार करते थे, लोगोंको कैदसे, अत्याचारसे छुड़ाते थे और धर्मघातियोंका संहार करते थे। उनकी यह लीला आज भी चल रही है—एक शब्दमें वे समग्र धर्मके कर्ता, वक्ता और अनुष्ठाता थे। परंतु यह सब क्या है? इसके लिये वे किसी मर्यादामें बद्ध हैं अथवा स्वाभाविक लीलाके अनुसार ही यह कुछ होता है? मनुष्य तो यही चाहेगा कि वे भी हमारी ही तरह मर्यादामें बँधे रहें और हमारी बुद्धिके अनुसार चलें। विचारहीन मनुष्य जीवधर्म और भगवद्धर्मका भेद नहीं कर सकता। भगवान्की तो बात ही अलग रही, मनुष्य तो अपनेसे उन्नत स्तरके मनुष्योंका ही धर्म नहीं समझ सकता। देवधर्म, पितृधर्म, अथवा गन्धर्वधर्म आदिको ही समझनेवाले कितने लोग हैं? ऐसा होनेपर भी भगवान्की लीलामें जो धर्मका सहज प्रकाश होता है वह माधुर्यका गोपन करनेके लिये, ऐश्वर्यको छिपाकर उनकी साधारणता प्रकट करनेके लिये ही।

उनके धर्मपालनपर दृष्टि डालकर कोई कृतार्थ हो जाय—इसकी तो बात ही क्या, जो उनका नाम लेते हैं वे भी धार्मिकोंके सिरमौर हो जाते हैं। भगवान्की लीलासे जिस यशका स्वाभाविक विस्तार होता है उसको गाकर, सुनकर, स्मरण कर अबतक कितने लोग कृतार्थ हो गये और आगे कृतार्थ होंगे—इसकी गणना नहीं की जा सकती।

वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि गाते-गाते थक गये। ग्वालिनोंने इतना गाया कि **'उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।'** उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णपर कलङ्क भी लगा कि उन्होंने स्यमन्तक मणि छीन ली। उनके कुछ अन्तरङ्ग लोग भी अनमने-से हो गये। आज भी भगवान् श्रीकृष्ण की लीलामें कलङ्कका आरोप करनेवालोंकी कमी नहीं है। उन्होंने यशकी भाँति अपयशको भी स्वीकार किया। वे यश और अपयश दोनोंके ही आश्रय हैं, अधिष्ठान हैं। दोनोंसे अछूते हैं और दोनों उनके स्वरूप हैं। इसीसे वे भगवत्ताविशिष्ट और भगवत्तासे परे भगवान् हैं।

भगवान्की सौन्दर्यलीला और लक्ष्मीलीला भी ध्यान देने योग्य है। सुन्दर तो इतने कि **'भूषण भूषणाङ्गम्'**—उनके शरीरकी ज्योतिसे आभूषण भी चमक उठते। **'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'** वे अपने शरीरसौन्दर्यसे स्वयं विस्मित, चकित हो जाते। जिसने एक वार प्रेमसे उनकी ओर देखा, उसीपर निछावर हो गये। धूलि-धूसरित भी और चतुर्भुज भी, सबके अन्तर्यामी भी और सबके नेत्रोंके विषय भी। परन्तु इस सौन्दर्यकी भीषणता भी प्रकट हो जाती। मथुराकी रङ्गभूमिमें स्त्रियोंने जिसे कामदेवके रूपमें देखा, कंसने उसीको मृत्युके रूपमें। यशोदा जिसको गोदमें लेकर चूम रही थीं, उसीके विराट् रूपको देखकर थर-थर काँपने लगीं। अर्जुन जिसे देखनेके लिये लालायित था, उसीको देखकर काँपने लगा। वे मृत्यु और अमृत दोनों हैं। काल और कालातीत वस्तुका यही स्वरूप है। लक्ष्मीको लीजिये, वे भगवान् श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर सुनहली रेखाके रूपमें सदा विराजमान रहती हैं। जिस दिनसे भगवान् व्रजमें आये,

उसी दिनसे वह लक्ष्मीकी लीला-भूमि हो गया । वे सर्वात्मना भगवान्‌की चरण-रज और वृन्दावनधामकी उपासना करती हैं । परन्तु जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका चिउड़ा खाने लगते हैं, वे काँप उठती हैं । भगवान्‌की एक ठिठोलीसे लक्ष्मी (रुक्मिणी) की जो दुर्दशा हुई थी, वह दशम स्कन्धमें पाठ करने योग्य है । श्रीकृष्णके लिये लक्ष्मी उनकी प्राणप्रिया हैं, और कुछ भी नहीं । वे लक्ष्मीके प्राणेश्वर और उनके स्पर्शसे भी दूर हैं । सौन्दर्य और सौन्दर्यका अभाव लक्ष्मी और लक्ष्मीका अभाव, दोनों ही श्रीकृष्णमें एकरस हैं; वे दोनोंके ही अधिष्ठान हैं ।

ज्ञानकी चर्चा व्यर्थ है, श्रीकृष्णका ज्ञान अखण्ड है, अबाधित है । सनत्कुमारके जिस प्रश्नका उत्तर स्वयं ब्रह्मा भी न दे सके, उसका समाधान श्रीकृष्णने किया । पूरा ग्यारहवां स्कन्ध पढ़ जाइये, ज्ञानकी एकरस धारा मिलेगी । ज्ञान तो उनका स्वरूप ही है । परन्तु अज्ञान कहाँ है ? यशोदासे पूछिये, उनका भोला बालक कितना अज्ञान है । वह तलवारसे अपना हाथ काट सकता है, जलमें अपनेको डुबो सकता है, कहीं आगका अंगारा उठाकर अपनेको जला सकता है । गोपियोंसे पूछिये, कोई ज्ञानी भी उसके घर इतना ऊधम मचा सकता है ? हद हो गयी—'**मेहनादीनि वास्तौ**' । कहीं ज्ञानी भी ऊखलसे बाँधे जा सकते हैं ? यह तो बचपनकी बातें हैं । अच्छा, जाने दीजिये । क्या श्रीकृष्ण यह नहीं समझते थे कि स्यमन्तक मणि शतधन्वाके पास नहीं, अक्रूरके पास है ? फिर उन्होंने उसका कपड़ा-लत्ता क्यों ढूँढ़ा ? क्या उन्हें इस बातका पता नहीं चला कि शाल्व जिस वसुदेवको मार रहा है, वह एक जादूका खेल है ? फिर

मूर्च्छित क्यों हो गये ? हाँ, तो यह लीला है। कहनेमें, समझनेमें आनेवाले सारे ज्ञान और अज्ञान श्रीकृष्णमें ही हैं। वे ही दोनोंके अधिष्ठान हैं। उनकी लीलासे दोनों ही व्यक्त होते हैं। उसमें दोनों ही अव्यक्त रहते हैं। वह एक लीला है और लीला है। वह कर्ता और कार्यके भेदसे रहित है।

तनिक वैराग्यकी बात भी कह लें। श्रीकृष्ण रागी थे। कौन कहता है कि नहीं थे ? माखनचोरी, ऊखलबन्धन, चीरहरण, रासलीला, द्वारकाके ऐश्वर्यका भोग—ये सब रागके ही तो लक्षण हैं। हाँ, ये लक्षण हैं जिनका कभी-कभी व्यभिचार भी होता है। परन्तु वैराग्य ? यह तो सभी लीलाओंमें है। जो प्रेमवश यशोदाकी साँटी सहता था, गोपियोंके नचानेसे नाचता था, उनके सामने हाथ जोड़ता था, मान-मनौती करता था, वही मथुरा जाकर एकबार लौटा तक नहीं, इसे हम राग कहें या विराग ? जिस राज्यका नाम सुनकर बड़े-बड़े योगी–यति अपनी तपस्या छोड़ बैठते हैं, वही राज्य कंसकी मृत्युके बाद श्रीकृष्णके चरणोंपर लोटता था। युधिष्ठिरने अपना साम्राज्य क्या श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावर नहीं किया था ? परन्तु उनकी ओर न ताककर उग्रसेन और धर्मराजके यहाँ सेवाका कार्य करना क्या अखण्ड वैराग्यका चिह्न नहीं है ? सोलहहजार पत्नियाँ उनपर कामदेवका बाण चलातीं और वे अविचल भावसे स्वरूपमें स्थित रहते, क्या यह अखण्ड वैराग्य नहीं ? **'पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः'**। पुत्रोंकी बहुत बड़ी संख्या थी। श्रीकृष्ण सबको प्यार करते थे। परन्तु ऋषियोंके शापसे उन्होंने किसी एककी भी रक्षा नहीं की। सोनेकी

द्वारका पलक मारते जलमें डूब गयी। सब कुछ कर सकते थे, कुछ नहीं किया। यह लीला वैराग्य-प्रदर्शनके लिये नहीं की गयी, अखण्ड वैराग्यकी सहज लीला है यह! हाँ, तो श्रीकृष्णमें राग भी है, वैराग्य भी है। वे दोनोंके ही अधिष्ठान हैं। अधिष्ठान तो हैं ही, अध्यास भी हैं। रज्जुमें अध्यस्त सर्प प्रतीतिकालमें भी क्या रज्जुसे पृथक् है? वे भगवान् तो हैं ही, 'भगवान्' शब्दकी और उसके अर्थकी सीमाके बाहर भी हैं। और यह बात उनकी प्रत्येक लीलासे प्रकट होती है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी यह सर्वशब्दार्थशून्य सर्वस्वरूपता स्थान-स्थानपर उनके मुखसे तथा उनके अन्तरङ्ग भक्तोंके मुखसे प्रकट हुई है। एक-दो उद्धरण देखिये। उद्धवजी कहते हैं—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः॥

(१०।३६।४३)

'जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूतसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे, स्थावर हो या जङ्गम, महान् हो अथवा अल्प—ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो! श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें। वास्तव में सब वही हैं, वही परमार्थ सत्य हैं।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः ।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥

(१०।८२।४६-४७)

'प्यारी गोपियो ! जैसे घट--पट आदि जितने भी भौतिक आकार हैं, उनमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओत-प्रोत हो रहे हैं—वैसे ही जितने पदार्थ हैं—उनके पहले, पीछे, बीचमें, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ; मेरे अतिरिक्त उनका अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सभी प्राणियोंके शरीरमें ये ही पाँचों भूत कारणरूपसे स्थित हैं और आत्मा भोक्ताके रूपसे अथवा जीवके रूपसे स्थित है; परन्तु मैं इन दोनोंसे परे अविनाशी सत्य हूँ। सच पूछो तो ये दोनों मेरे ही अन्दर प्रतीत हो रहे हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही उद्धवसे कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥

(११।१३।२४)

'सनकादि ऋषियो ! तुमलोग तत्त्वदृष्टिसे यों समझो कि मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा दूसरी इन्द्रियोंसे भी जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं-ही-मैं हूँ; मुझसे भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि स्थूल—सूक्ष्म, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण विशेष तो

क्या, सभी पदोंका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ श्रीकृष्णस्वरूप ही है। उनके दर्शन-ध्यानके लिये मनको चाहे दूसरे लोकमें ले जायँ, चाहे इस लोकमें रक्खें—सर्वदा सर्वथा उनका दर्शन-ध्यान सम्भव है, क्योंकि सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा वही हैं। श्रीमद्भागवत इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्णताका प्रतिपादन करती है और उन्हींमें समा जाती है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण हैं, श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णमें है और वास्तवमें श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण एक अनिर्वचनीय वस्तु तथा सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीमद्भागवतको जानना श्रीकृष्णको जानना है और श्रीकृष्णको जानना श्रीमद्भागवतको; इसलिये श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णके सम्बन्धका नहीं, स्वरूपका ज्ञान ही अपेक्षित है और यह भी एक लीला है।

श्रीमद्भागवत महापुराण है।

श्रीमद्भागवत संस्कृत वाङ्मयकी सर्वोत्कृष्ट परिणति है। उसके लक्ष्य, साधन और शैली महान् तथा विलक्षण हैं एवं उसका स्वरूप भी अत्यन्त गम्भीर, मधुर तथा प्रसादपूर्ण है। उसका अध्यात्म, उसका काव्य और उसकी समाज-संगठनप्रणाली सम्पूर्ण संसारके लिये गौरवकी वस्तु है। जीवोंके परम कल्याणके लिये ही इस ग्रन्थरत्नका आविर्भाव हुआ है। यह भगवान्का साक्षात् स्वरूप है, प्रसाद है। उद्धवकी प्रार्थनासे भगवान्ने भागवतमें प्रवेश किया है। इसमें उन्होंने अपना विशेष तेज स्थापित किया है। वाङ्मयी मूर्ति धारण करके वे ही भागवतके रूपमें प्रकट हुए हैं। आज भी श्रद्धा भक्ति और भावकी दृष्टिसे देखनेपर श्रीमद्भागवतके रूपमें साक्षात् भगवान्के दर्शन प्राप्त हो सकते हैं। भगवान् और श्रीमद्भागवतका आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है।

'भागवत' शब्दका अर्थ है—जो भगवान्के द्वारा प्रोक्त हो। श्रीमद्भागवतके अनेक प्रसङ्गोंमें भक्तके अर्थमें 'भागवत' शब्दका प्रयोग हुआ है। भक्तके हृदयमें, दृष्टिमें, रोम-रोममें भगवान्का निवास है; भक्त केवल भगवान्के लिये है। उसके साध्य, साधन, जीवन एवं सब कुछ भगवान्के हैं। ठीक वैसे ही श्रीमद्भागवतमें जो कुछ है, वह स्वयं जो कुछ है, सब भगवान्का ही है; सब भगवान् ही है। यह सब सत्य, परम सत्य होनेपर भी आधुनिक मनोवृत्ति इसको भावुकता कहती है। इसलिये भागवतकी रक्षाके लिये नहीं—क्योंकि वह तो

स्वयं सुरक्षित है; तार्किकोंके समाधानके लिये नहीं—क्योंकि तर्कोंका अन्त नहीं है, भक्तजनोंके सन्तोषार्थ, भागवतके सम्बन्धमें यहाँ कुछ बातें लिखी जाती हैं।

आर्यजातिमें सब प्रकारकी उन्नतिके लिये प्रायः दो प्रकारके शास्त्र स्वीकार किये गये हैं—श्रुति और स्मृति। इनके अतिरिक्त ब्रह्माण्डपुस्तक, पिण्डपुस्तक आदि भी शास्त्रोंके भेद हैं, जिनका वर्णन वेदके 'पञ्चनद्यः सरस्वती' मन्त्रमें आया है। श्रुति-शब्द नित्य होते हैं। सब युग, सब मन्वन्तर और सब कल्पोंमें उनकी आनुपूर्वी एक-सी ही रहती है। सृष्टिके प्रारम्भमें प्रणव, गायत्री और मन्त्रसंहिताके रूपमें उनका अनाहत नाद होता है। विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिगण उसका श्रवण करते हैं और पीछे अपनी शिष्यपरम्परामें उन्हीं शब्दोंमें उनका विस्तार करते हैं। वेद शब्दशः एक ही होते हैं, देश और कालके व्यवधानसे उनमें अन्तर नहीं पड़ता। वे परमात्माके निःश्वसित शब्द हैं।

दूसरे प्रकारके शास्त्र 'स्मृति' कहलाते हैं। मन्वादि स्मृति, महाभारतादि इतिहास, श्रीमद्भागवतादि महापुराण स्मृति-शास्त्रके अन्तर्गत हैं। महान् तपस्वी त्रिकालज्ञ ऋषियोंके परम पवित्र अन्तःकरणमें भगवान्‌की प्रेरणासे इन भावोंका आविर्भाव हुआ करता है। ये शास्त्र भावरूपसे तो सर्वदा एक ही रहते हैं, परन्तु इसके शब्दोंकी आनुपूर्वी परिवर्तित होती रहती है। सृष्टिके प्रारम्भमें प्राचीन भावोंकी स्मृति होती है और स्मृतिके आधारपर रचे जानेके कारण वे स्मृति-शास्त्र कहलाते हैं। यद्यपि पुराणोंमें ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनमें

श्रुतियोंके समान ही पुराणोंको शब्दरूपमें भी नित्य कहा गया है, तथापि पुराणोंके निर्माणका समय निर्दिष्ट होनेके कारण उन वचनोंको पुराणोंका महत्त्व वर्णन करके उनकी वेद-समकक्ष प्रामाणिकताके समर्थक समझना चाहिये। जगत्के इतिहासमें उथल-पुथल और उलट-पलट होनेपर भी ये एक-सरीखे ही रहते हैं। इसीसे वेद, उपनिषद् और मनुसंहिता आदिमें स्पष्ट बतलाया गया है कि जैसे भगवान्के निःश्वाससे ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि प्रकट हुए हैं, वैसे ही इतिहास-पुराण भी प्रकट हुए हैं।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।

(वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद् ४।११।५)

इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

(छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)

इनके अतिरिक्त संहिताभागमें भी अनेक स्थानोंपर पुराणोंका उल्लेख मिलता है। गोपथब्राह्मणमें और अथर्ववेदमें ब्राह्मणग्रन्थोंके साथ ही पुराणोंका वर्णन आता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदोंमें आये हुए 'पुराण' शब्दका अर्थ ब्राह्मणग्रन्थ नहीं है। वेदोंकी ही भाँति पुराण भी भगवान्के निःश्वास हैं और वे इन्हीं भावोंको लेकर प्रत्येक कल्पके प्रारम्भमें प्रकट हुआ करते हैं।

उच्च ज्ञानसम्पन्न ऋषि-मुनियोंके लिये वेदोंका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। परन्तु साधारण लोगोंके लिये वह अत्यन्त दुरूह है और उसकी भाषा भी साधारण भाषासे विलक्षण ही है। इसलिये

सर्वसाधारणको वेदोंका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वेदोंके एक ऐसे भाष्यकी आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा सर्वसाधारण अपने लक्ष्य-लक्षण आदिको पहचान सके। वेदोंके उपबृंहणके लिये इतिहास और पुराण साधन माने गये हैं—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।'

तीन गुण, तीन भाव और त्रिविध अधिकारियोंके भेदसे वेदोंके अर्थ भी तीन प्रकारके होते हैं। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावोंको प्रकट करनेके लिये एक ही मन्त्रमें तीन प्रकारके अर्थ भरे रहते हैं। न केवल वेद ही, संसारकी समस्त वस्तुएँ त्रिविध भावसे व्याप्त हैं। 'नेत्र' शब्दके उच्चारणसे अधिभूत भावमें नेत्रगोलक, अधिदैव भावमें सूर्य और अध्यात्म भावमें रूपतन्मात्रा इन्द्रियका ग्रहण होता है। साधकके भूमि-भेदके अनुसार उसे 'नेत्र' शब्दके उच्चारणसे भिन्न-भिन्न भावोंकी अनुभूति होती है। ठीक इसी सिद्धान्तके अनुसार पुराणोंमें भी वेदमन्त्रोंसे तीनों प्रकारकी शैलीमें वर्णन भी किया गया है। पुराणसंहितामें कहा गया है कि शास्त्रोंमें तीन प्रकारकी भाषा होती है—समाधिभाषा, परकीया भाषा और लौकिकी भाषा। समाधिभाषा उसको कहते हैं, जिसमें समाधिगम्य विषयोंको विना रूपक आदिकी सहायताके स्पष्टरूपमें वर्णन किया गया हो—जैसे जीव, ईश्वर, प्रकृति आदिके स्वरूपका वर्णन। समाधिगम्य विषयोंका ही जब रूपक अथवा लौकिक विषयोंके समान वर्णन किया जाता है, तब उसको लौकिकी भाषा कहते हैं—जैसे ब्रह्माका अपनी कन्यापर मुग्ध होना, ब्रह्मा और

विष्णुका शिवलिङ्गका ओर-छोर नहीं पाना आदि। परकीया भाषा उसको कहते हैं, जिसके द्वारा धर्मसंस्थापनके लिये किसी भी लोक, कल्प अथवा व्यक्तिकी यथार्थ कथा कही गयी हो। इन्हीं तीनों भाषाओंके द्वारा पुराण वेदगत अर्थोंका वर्णन करते हैं।

उपर्युक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि वेद और उनके भाष्यस्वरूप पुराण अनादि और नित्य हैं। ये सृष्टि एवं प्रलयके पूर्व और पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं। इसलिये इनके निर्माण-कालके सम्बन्धमें जो अनुसन्धान होता है, वह यदि ब्रह्माण्डके विस्तार और दैवी राज्यपर दृष्टि रखकर नहीं किया गया तो सर्वथा अपूर्ण रहेगा और उसके द्वारा भ्रमकी ही विशेष वृद्धि होगी। शास्त्रोंकी अनादिता और नित्यता स्वीकार करते हुए भी वेदोंके अतिरिक्त जिनकी आनुपूर्वी नित्य नहीं है, उन स्मृतिरूप शास्त्रोंके प्रकट होनेका समय अनुसन्धान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। फिर भी दो बातोंका स्मरण तो निरन्तर रखना ही चाहिये—एक तो दिव्य शरीरवाले सिद्ध ऋषियोंकी आयु भी सामान्य पुरुषोंकी भाँति सौ—पचास वर्षकी मान ली जायगी, तो भी ठीक-ठीक ग्रन्थनिर्माणका समय नहीं मालूम हो सकेगा और यदि उन ग्रन्थोंमें लिखे हुए समयको अप्रामाणिक मानेंगे, तो भी उनके समय-निर्णयसे विशेष लाभ न हो सकेगा। जिसपर झूठा होनेका सन्देह है, उसकी प्राचीनता जानकर भी उसके अनुसार आचरण करनेमें हिचकिचाहट होगी।

प्रत्येक द्वापरयुगके अन्तमें भगवान् विष्णु व्यासरूपसे अवतीर्ण होते हैं। मनुष्योंको अल्पबुद्धि, अल्पशक्ति और अल्पायु

जानकर वेदोंके चार भाग कर देते हैं। व्यासका 'व्यास' नाम ही इसलिये पड़ा हैं कि वे वेदोंका विभाजन करते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर और प्रत्येक द्वापरमें भिन्न-भिन्न व्यास हुआ करते हैं। वैवस्वत मन्वन्तरके अट्ठाईसवें द्वापरमें महर्षि पराशरके द्वारा सत्यवतीके गर्भमें उत्पन्न होनेवाले भगवान् कृष्णद्वैपायन ही व्यास हुए हैं (वि० पु० ३। ३)। वर्तमान समयमें वेदोंका जो स्वरूप उपलब्ध है, वह इन्हीं वेदव्यासके द्वारा संगृहीत है। महाभारत और अठारह पुराणोंके कर्त्ता-स्मर्त्ता भी यही वेदव्यास हैं। अठारह पुराणोंके नाम प्रायः प्रत्येक पुराणमें आते हैं। वे निम्नलिखित हैं—ब्रह्मपुराण, नारदीय-पुराण, मार्कण्डेयपुराण, आग्नेयपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिङ्गपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुडपुराण और ब्रह्माण्डपुराण। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से पुराण और उपपुराण प्राप्त होते हैं। कई पुराण तो दो-दो प्राप्त होते हैं। स्कन्दपुराण एक संहितात्मक है और दूसरा खण्डात्मक है। दोनों ही व्यासकृत हैं। एक पुराण है, एक उपपुराण। वैसे ही श्रीमद्भागवत भी दो प्रकारके प्राप्त होते हैं—एक भागवत और दूसरा देवीभागवत। इनमेंसे महापुराणान्तर्गत कौन-सा भागवत है, यह विचारणीय प्रश्न है। देवीभागवतके पक्षमें पाँच बातें कही जाती हैं—

१—महाभारत-निर्माणके पूर्व ही अष्टादश पुराणोंकी रचना हो

चुकी थी, ऐसा वर्णन मिलता है* । भागवतकी रचना महाभारतके पश्चात् हुई, जैसा कि भागवतमें लिखा है । तब भागवत व्यासरचित होनेपर भी महापुराण कैसे हो सकता है ?

२—श्रीमद्भागवतके टीकाकारोंने भागवतके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये प्रथम श्लोककी व्याख्यामें जो वचन उद्धृत किये हैं, वे देवीभागवतपर पूर्णतः घट जाते हैं और श्रीमद्भागवतपर नहीं घटते । इसलिये देवीभागवत ही 'भागवत' शब्दका वाच्यार्थ है ।

३—मत्स्यपुराणमें जहाँ पुराणोंके दानका प्रसङ्ग आया है, वहाँ भागवतके साथ हेमसिंहके दानकी भी आज्ञा हैं । सिंहके साथ देवीभागवतका ही साक्षात् सम्बन्ध है, श्रीमद्भागवतका नहीं । इसलिये भी देवीभागवत ही भागवत है ।

४—वेदव्यासरचित महाभारत, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण आदि ग्रन्थोंमें जैसे द्राक्षापाक, कैशिकी वृत्ति और सरल भाषाका प्रयोग हुआ है वैसा देवीभागवतमें तो है; परन्तु श्रीमद्भागवतमें ठीक उसके विपरीत नारिकेलपाक, आरभटी आदि वृत्ति और कठोर भाषाका प्रयोग हुआ है । इसलिये श्रीमद्भागवत किसी अन्यकी रचना है और देवीभागवत वेदव्यासकी ।

---

* अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तद्रूपबृंहितम् ॥ (स्कं० पु०)

अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च ।
ज्ञात्वा सत्यवतीसूनुश्चक्रे भारतसंहिताम् ॥ (म० पु०)

५—ईसाकी तेरहवीं सदीमें वैद्यवर केशवके पुत्र, श्रीधनेश मिश्रजीके शिष्य, देवगिरिनरेश महाराज महादेवके सभापण्डित पण्डितराज श्रीबोपदेवने राजमन्त्री श्रीहेमाद्रिको सन्तुष्ट करनेके लिये श्रीमद्भागवतकी रचना की। यह सर्वथा स्वतन्त्र उनकी रचना है, इसे महापुराणोंमें स्थान नहीं मिलना चाहिये। इसका खण्डन हो जानेपर देवीभागवत स्वतः ही महापुराण सिद्ध हो जाता है।

अब इन आपत्तियोंपर क्रमशः विचार किया जाता है।

१—वर्तमान कालमें जो अष्टादश पर्वका महाभारत उपलब्ध होता है, यह भगवान् व्यासके बनाये हुए महाभारतका संक्षिप्त रूप हैं। भगवान् व्यासने पहले सौ पर्वोंका महाभारत बनाया था। पूर्ण हो जानेपर उन्होंने ऐसा सोचा कि वेद और ब्रह्मसूत्रोंमें द्विजेतरोंका अधिकार नहीं है—ऐसा विचार करके मैंने इस सौ पर्ववाली संहिताका निर्माण स्त्री, शूद्र और ब्राह्मणबन्धुओंके लिये किया था। परन्तु यह इतनी बृहत् और गम्भीर हो गयी कि सम्भव है उनके लिये उपयोगी न हो। इसलिये व्यासदेवने अपने दो शिष्य जैमिनि और वैशम्पायनको बुलाकर कहा कि 'तुम इस सौ पर्वके महाभारतका अठारह पर्वके महाभारतके रूपमें संक्षेप कर दो।'

'एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना।
ततस्तु सूतपुत्रेण रौमहर्षणिना पुरा॥
कथितं नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु।'

जैमिनिकृत महाभारतका केवल जैमिनीयाश्वमेध ही प्रचलित है। शेष भाग सुलभ नहीं है। वैशम्पायनकृत महाभारत ही आजकल

उपलब्ध होता हैं। 'समासो भारतस्यायम्' इस उक्तिसे तो यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। अष्टादश पर्ववाले महाभारतके पूर्व अष्टादश पुराणोंका निर्माण हो चुका था, परन्तु सौ पर्ववाले महाभारतके पूर्व नहीं। इसलिये जहाँ पुराणोंके महाभारतसे पूर्व निर्माणका वर्णन आता है, वहाँ अष्टादश पर्ववाले महाभारतसे, और जहाँ पश्चात्का वर्णन आता है वहाँ सौ पर्ववालेसे—ऐसा समझना चाहिये। सच्ची बात तो यह है कि महाभारत और पुराण एक ही व्यक्तिके बनाये हुए हैं, इसलिये उनमें पूर्वापरभावकी कल्पना ही ठीक नहीं है। गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका उल्लेख और ब्रह्मसूत्रोंमें गीताका, पुराणोंमें महाभारतका और महाभारतमें पुराणोंका उल्लेख इस बातका अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण है कि ये सब एक काल और एक व्यक्तिके लिखे हुए हैं। पहलेके बने होनेपर भी मार्कण्डेय, अग्नि आदि पुराणोंमें महाभारतकी चर्चा है। जनमेजयके यज्ञमें महाभारतका सुनाया जाना और महाभारतमें जनमेजयकी कथा आना, ये दोनों ही इस बातके सूचक हैं कि यज्ञके पहले ही परीक्षित्को श्रीमद्भागवत सुनाया जा चुका था। जनमेजयके यज्ञका वर्णन करनेवाला महाभारत श्रीमद्भागवतके पहले बना था, यह कल्पना किसी प्रकार सुसङ्गत नहीं है। इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् व्यासने पहले सौ पर्ववाले महाभारतकी रचना की, उसके बाद सत्रह पुराणोंकी। परन्तु उनके निर्माणसे जब सन्तोष न हुआ, तब नारदके उपदेशसे श्रीमद्भागवतकी रचना की। प्रत्येक पुराणमें अठारहों पुराणोंके नाम आये हैं। यह बात ध्यानमें रख लेनेपर फिर यह प्रश्न ही नहीं रह जाता कि पहले किस ग्रन्थका निर्माण हुआ है। संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन, एक दूसरेका मिलान

बहुत दिनोंतक स्वयं व्यास ही करते रहे हैं। इसलिये श्रीमद्‌भागवतमें जो यह वर्णन आया है कि यह महाभारतके पीछे बना है—यह सत्य है; परन्तु इस महाभारतके पूर्व बननेके कारण वह अष्टादश महापुराणोंके अन्तर्गत ही है। यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि 'भागवत' शब्दकी व्युत्पत्ति दोनों ही प्रकारसे हो सकती है—'भगवत्या इदम्' और 'भगवता इदम्'। इससे ठीक-ठीक अर्थ निकल जानेपर भी भागवत शब्दके पूर्व 'देवी' शब्द लगानेका कोई प्रयोजन नहीं मालूम पड़ता। विशेषण लगानेसे उलटे यह बात सिद्ध होती है कि पुराण-प्रसिद्ध भागवत-शब्दार्थ श्रीमद्‌भागवत है और देवीभागवत उससे पृथक् और पीछेका है।

२—श्रीमद्‌भागवतके निम्नलिखित लक्षण पुराणोंमें मिलते हैं—

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमिष्यते॥
(मत्स्यपुराण)

ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः।
हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा॥
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः।
(स्कन्दपुराण)

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु।
पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्॥
(पद्मपुराण)

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः ॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद् भगवतोदितः ।
द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः ॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ।
(गरुडपुराण)

'जिस पुराणमें गायत्रीके* द्वारा धर्मके विस्तार और वृत्रासुरके वधका वर्णन हो, उसका नाम भागवत है।'

'बारह स्कन्ध, अठारह हजार श्लोकवाला ग्रन्थ—जिसमें हयग्रीवचरित्र, ब्रह्मविद्या, वृत्रासुरवधका वर्णन है और गायत्रीसे जिसका प्रारम्भ हुआ है—उसका नाम भागवत है।'

'हे अम्बरीष ! यदि तुम्हारी इच्छा है कि मैं संसारसे मुक्त हो जाऊँ, तो तुम प्रतिदिन शुक्रोक्त भागवतका श्रवण करो अथवा अपने-आप ही पठन करो।'

'यह ब्रह्मसूत्रोंका अर्थ है, महाभारतका तात्पर्यनिर्णय है, गायत्रीका भाष्य है और समस्त वेदोंके अर्थको धारण करनेवाला है। समस्त पुराणोंका साररूप है, साक्षात् श्रीशुकदेवजीके द्वारा कहा हुआ है, इसमें सौ विश्राम हैं, अठारह श्लोकोंका यह श्रीमद्भागवत नामका ग्रन्थ है।'

---

* श्रीमद्भागवतके प्रथम पद्यमें ही गायत्रीका पूरा वर्णन है। सवितुः=जन्माद्यस्य यतः। देवस्य=स्वराट्। वरेण्यं भर्गः=धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्। धियो यो नः इत्यादि=तेने ब्रह्म हृदा आदि। धीमहि=धीमहि। अन्तमें भी है।

ये सब-के-सब लक्षण श्रीमद्भागवतमें घट जाते हैं। श्रीमद्भागवतके पहले और अन्तिम श्लोकमें गायत्रीका सार आ गया है। केवल इतने ही प्रमाण नहीं; नारदीय महापुराणमें जहाँ सभी पुराणोंकी अनुक्रमणिका लिखी गयी है, वहाँ श्रीमद्भागवतकी अनुक्रमणिका पूर्ण रूपसे प्राप्त होती है। यथा—

विरिञ्चे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत् कृतम्।
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्॥
तदष्टादशसाहस्रं कीर्तितं पापनाशनम्।
सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः॥
भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः।
तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमे।
व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च॥

—इत्यादि

न केवल नारदीय पुराणमें बल्कि अन्यान्य पुराणोंमें भी बहुत स्पष्ट वर्णन आया है—

दशसप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
नाप्तवान्मनसस्तोषं भारतेनापि भामिनि॥
चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम्।

(पद्मपुराण)

'सत्यवतीनन्दन व्यासने महाभारत और सत्रह पुराणोंकी रचना की, फिर भी उन्हें शान्ति न मिली; तब उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना की।'

पद्मपुराणमें श्रीमद्भागवत माहात्म्यके प्रसङ्गमें ऐसा वर्णन आता है कि जब भागवतकी कथा होने लगी तब वेद, वेदान्त, मन्त्र, तन्त्र, संहिता, सत्रहों पुराण और हजारों ग्रन्थ उपस्थित हुए, जैसा कि निम्न श्लोकसे प्रकट होता है—

वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः ।
दशसप्तपुराणानि सहस्राणि तदाऽऽययुः ॥

यदि श्रीमद्भागवत अठारहवाँ पुराण न होता, तो यहाँ सत्रह ही पुराणोंके आनेकी बात नहीं लिखी जाती । अठारहवेंकी अनुपस्थितिसे यह निश्चित होता है कि वह श्रीमद्भागवत ही है, जिसकी कथा हो रही है । इसलिये पद्मपुराणके—

पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् ।
यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः ॥
इति संकल्प्य मनसा श्रीमद्भागवतं परम् ।
जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमद्यन्तमुपावदत् ॥

इन वचनोंके अनुसार तो और किसी पुराणकी शङ्का ही नहीं उठती; और वास्तवमें यही महापुराण है, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

३—श्रीमद्भागवतके प्रसङ्गमें कहा गया है—

लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् ।
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमं पदम् ॥

(मत्स्यपुराण)

इसका भाव है कि सोनेके सिंहासनपर स्थापित करके श्रीमद्भागवतका दान करनेसे परमपदकी प्राप्ति होती है। मूलमें 'हेमसिंह' शब्द है, 'सिंहासन' शब्द नहीं है। इससे कई लोग सोचते हैं कि देवीका वाहन सिंह है, इसलिये यहाँ सिंहके सम्बन्धसे देवीभागवतका ही ग्रहण होना चाहिये। परन्तु 'सिंह' शब्दसे यहाँ सिंहासन लेना ही उपयुक्त है; क्योंकि किसी भी पुराणके पीठको सिंहासन कहा जाता है। यदि यह बात न मानी जाय, तो शास्त्रोंमें भगवान्के सिंहवाहनका भी वर्णन आया है। अत्रिप्रोक्त कारिकाग्रन्थ एवं वैशम्पायनप्रोक्त कारिकाग्रन्थमें भगवान्के दस अर्चावतारोंके लिये दस प्रकारके वाहनोंका वर्णन आया है, जिसमें दूसरा वाहन सिंह है। पञ्चरात्रागम एवं भृगुप्रोक्त वैखानस दैविक यज्ञाधिकारके उत्सवपटलमें विष्णुभगवान्के हंस, सिंह, हनुमान्, शेष, गरुड, दन्तावल, रथ, अश्व, शिविका और पुष्पक—इन दस वाहनोंका वर्णन प्राप्त होता है।* इसलिये 'हेमसिंह' शब्द देखकर ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यह लक्षण श्रीमद्भागवतका नहीं, देवीभागवतका है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धके अन्तिम अध्यायमें भी हेमसिंहपर स्थापित करके श्रीमद्भागवतके दानका वर्णन आता है।

४—भाषातत्त्व कोविद आचार्योंने पाक, वृत्ति, शय्या, रीति आदिके अनेक लक्षण बतलाये हैं, जिनका विस्तारभयसे यहाँ वर्णन

* अथ विष्णोर्वाहनानि व्याख्यास्यामः—प्रथमे हंसो द्वितीये सिंहस्तृतीये ह्याञ्जनेयश्चतुर्थे फणीन्द्रः पञ्चमे वैनतेयष्षष्ठे दन्तावलस्सप्तमे रथोऽष्टमे तुरङ्गमो नवमे शिबिका दशमे पुष्पकमिति ।

नहीं किया जाता। संक्षेपसे इतना ही समझ लेना चाहिये कि जहाँ श्रृङ्गार एवं करुण-रसका अत्यन्त कोमल सन्दर्भके द्वारा वर्णन किया जाय वहाँ कैशिकी वृत्ति होती है; जहाँ रौद्र और वीभत्सरस अत्यन्त प्रौढ़ सन्दर्भके द्वारा प्रतिपादित हों, वहाँ आरभटी वृत्ति होती है। जहाँ अत्यन्त कोमलता अथवा अत्यन्त प्रौढ़ताका आश्रय न लेकर किंचित् सुकुमार सन्दर्भके द्वारा हास्य, शान्त और अद्भुत रसोंका वर्णन होता है वहाँ भारती वृत्ति होती है और जहाँ किंचित् प्रौढ़ताको लेकर साधारणतः वीर और भयानक रसका वर्णन होता है, वहाँ भी भारती वृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण वर्णनमें मध्यम कैशिकी और मध्यम आरभटीका प्रयोग होता है। ये वृत्तियाँ अर्थ और शब्द दोनोंकी अपेक्षासे होती हैं; परन्तु वैदर्भी, गौडी, पञ्चाली आदि रीतियाँ केवल शब्दगुणाश्रित होती हैं। उन्हें अर्थविशेषकी अपेक्षा नहीं होती, केवल सन्दर्भकी अन्योन्यमैत्रीका नाम 'शय्या' है। पाक दो प्रकारके होते हैं—एक द्राक्षापाक और दूसरा नारिकेलपाक। जिसमें बाहर और भीतर सर्वत्र रसकी परिस्फूर्ति होती हो, उसका नाम द्राक्षापाक है और जिसके भीतर रस अत्यन्त गूढ़ रूपसे रहता हो, उसको नारिकेलपाक कहते हैं।

वेदव्यास साक्षात् भगवान् हैं। जो लोग शास्त्र और भावुकताकी दृष्टिसे न देखकर केवल तर्कबुद्धिसे विचार करते हैं, वे लोग भी व्यासदेवको लोकोत्तर कवि तो मानते ही हैं। जिन्होंने निखिल वेदोंका विभाजन किया, इतिहास और पुराणोंका प्रणयन किया, जिन्होंने सारे जगत्के सामने शब्दब्रह्म और परब्रह्मका स्वरूप रख दिया—वे ही भगवान् व्यास यदि अनेकविध भाषाओंमें, अनेक-ग्रन्थोंमें, अनेक

प्रकारकी वृत्ति, रीति और कलाका प्रयोग करें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? एक ओर उपाख्यानोंके द्वारा गूढ़-से-गूढ़ तत्त्वको प्रकाशित कर देना और दूसरी ओर बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी दुरूह ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण कर देना, यह उन्हींकी प्रतिभाका काम है। व्यासशिक्षामें सरल शब्दोंद्वारा अपना भाव प्रकट कर देना और महाभारतके कूट श्लोकोंमें गणेशके लिये भी दुर्गम बना देना, ऐसा परस्परविरुद्ध कार्य भगवान् व्यासके अतिरिक्त और कौन कर सकता है? अन्य पुराणों और भागवतकी भाषामें जो भेद है, वह उनकी और भी महिमा प्रकट करता है। वास्तवमें तो ब्रह्मसूत्र और भागवतकी भाषामें इतना साम्य है कि कई स्थानोंपर तो अनेकों सूत्र ज्यों-के-त्यों भागवतमें मि ते हैं। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने श्रीमद्भागवतको ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य मानकर, जैसा कि गरुडपुराणमें लिखा है, और किसी भाष्यकी रचना नहीं की। इसलिये केवल भाषाकी भिन्नतासे भागवतको अन्य-कर्तृक मानना उचित नहीं है।

केवल वेदव्यासके ही ग्रन्थोंमें भाषाकी भिन्नता हो, ऐसी बात नहीं; अबतक जितने भी संस्कृतसाहित्यमें विलक्षण प्रतिभासम्पन्न पुरुष हुए हैं, सबने समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषाओंमें अपने भाव प्रकट किये हैं। तत्त्वबोध, आत्मबोध, विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति, प्रबोधसुधाकर आदि सरल ग्रन्थोंके लिखनेवाले आचार्य शङ्कर ब्रह्मसूत्रोंके भाष्यमें ऐसी कठिन भाषा लिख सकते हैं, साधारण लोग इसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। परन्तु यही उनकी विशेषता है कि सरल-से-सरल और कठिन-से-कठिन भाषापर उनका एक-सा आधिपत्य है। उदाहरणके लिये

'जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिः अनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृति न्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः' इत्यादि ।

(क० उ० २ । ३ । १ शाङ्करभाष्य)

इसके विपरीत—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

(विवेकचूडामणि)

इन दोनों उद्धरणोंकी भाषा देखकर कोई भी विद्वान् नहीं कह सकता कि ये एक ही व्यक्तिकी कृति हैं । परन्तु वास्तवमें बात ऐसी ही है, ये दोनों भगवान् शंकराचार्यकी कृति हैं । ऐसे ही मधुसूदन सरस्वती, विद्यारण्य स्वामी, हर्ष मिश्र, वाचस्पति मिश्र आदिके ग्रन्थोंमें भी भाषाभेद देखा जाता है । आचार्योंकी तो बात ही क्या, महाकवि कालिदासकी कृति रघुवंश और मेघदूतमें भाषाका ऐसा विलक्षण भेद है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है—'क सूर्यप्रभवो वंशः' और 'कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकार प्रमत्तः' में जो भाषावैचित्र्य है उसको केवल काव्य-कला-कुशल ही समझ सकते हैं । कालिदासकी

ही कृति नलोदयमें 'रसारसारसारसा' 'पिकोपिकोपिकोपिको' आदि उक्तियाँ अपनी विचित्र वैदग्धीसे पाठकके चित्तको चमत्कृत कर देती हैं। यह कविका भूषण है। भगवान् व्यासकी कृतियोंमें केवल वृत्ति-भेद, पाक-भेद आदि देखकर कर्तृ-भेदकी कल्पना किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं है।

५—श्रीमद्भागवतका रचनाकाल बोपदेवसे बहुत पहले है और इसके रचयिता स्वयं भगवान् वेदव्यासजी हैं। इस बातको हमने दूसरे स्वतन्त्र लेखमें भली भाँति सिद्ध किया है। पाठक इसी ग्रन्थमें उस लेखको पढ़ लें।

श्रीमद्भागवत व्यासकृत महापुराण है—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त बातें लिखी गयी हैं, न कि देवीभागवतके खण्डनके लिये; क्योंकि देवीभागवत भी एक बहुत सम्मान्य पुराण है और वह भी प्रामाणिक ही है।

☆

श्रीमद्भागवतका रचनाकाल

श्रीमद्भागवतके निर्माता और निर्माणकालके सम्बन्धमें बहुत-सी शङ्काएँ उठायी जाती हैं। ये सब पाश्चात्त्य विद्वानों तथा उनके अनुयायी आधुनिक भारतीयोंके मस्तिष्ककी उपज हैं जो प्रत्येक वस्तुको शास्त्रीय दृष्टिसे न देखकर केवल बाहरी प्रमाणोंके आधारपर ही देखना चाहते हैं। ऐसे ही लोगोंमें कुछ सज्जनोंने श्रीमद्भागवतको तेरहवीं शताब्दीकी रचना बतलाया है और इसका रचयिता बोपदेवको माना है। कुछने इसे और भी आधुनिक बतलाया है। एक सज्जनने तो यहाँतक कहा है कि श्रीमद्भागवतके रासलीलादि प्रसङ्ग तो सोलहवीं शताब्दीकी रचना हैं। परन्तु विचार करनेपर पता लगता है कि ये सब मत भ्रमपूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण भगवान् व्यासकी रचना है और इसका रचनाकाल पाँच हजार वर्षसे पहलेका है। श्रीमद्भागवत व्यासकृत है, यह तो हम पिछले लेखमें प्रमाणित कर चुके हैं। इस लेखमें उसके रचना-कालके सम्बन्धमें कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। आशा है, इससे पाठकोंको सन्तोष होगा।

यह निश्चित हो चुका है कि बोपदेवका समय ईसाकी तेरहवीं शताब्दी है; क्योंकि देवगिरिके यादव राजा महादेवका राजत्वकाल सन् १२६० ई० से सन् १२७१ ई० तक माना गया है और सन् १२७१ ई० से सन् १३०९ ई० तक रामचन्द्र नामक राजा वहाँ रहे हैं। उनके समस्त करणाधिपति और मन्त्री थे हेमाद्रि, और हेमाद्रिकी

प्रसन्नताके लिये ही कविराज श्रीबोपदेवने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी। बोपदेवने कुल छब्बीस ग्रन्थोंकी रचना की थी—व्याकरणके दस, वैद्यकके नौ, तिथिनिर्णयका एक, साहित्यके तीन और भागवततत्त्वके तीन। भागवततत्त्वका वर्णन करनेके लिये उन्होंने जिन तीन ग्रन्थोंका निर्माण किया था, उनके नाम हैं—'परहंसप्रिया', 'हरिलीलामृत' और 'मुक्ताफल'। इनमेंसे 'हरिलीलामृत' और 'मुक्ताफल' छपे हुए हैं। 'मुक्ताफल' की टीकामें, जो कि हेमाद्रिके द्वारा ही रचित है, लिखा है कि बोपदेवने इन-इन ग्रन्थोंका निर्माण किया है*। 'हरिलीलामृत' का ही दूसरा नाम 'भागवतानुक्रमणिका' है। यदि बोपदेवने भागवतकी रचना की होती, तो हेमाद्रि बोपदेवकृत ग्रन्थोंके प्रसङ्गमें उसकी चर्चा अवश्य करते। वास्तविक बात तो यह है कि जैसे श्रीधरस्वामीने प्रत्येक अध्यायका संग्रह एक-एक श्लोकमें किया है और जैसे 'भागवतमञ्जरी' नामक ग्रन्थमें संक्षेपमें सारे भागवतका सारांश दे दिया गया है, वैसे ही बोपदेवने 'हरिलीलामृत' में सम्पूर्ण भागवतका सारांश दे दिया है। उसीके दो-चार स्फुट श्लोकोंको पढ़कर कुछ लोगोंने धारणा बना ली कि श्रीमद्भागवत बोपदेवकी रचना है जो कि उस ग्रन्थ और उसपर लिखी गयी हेमाद्रिकृत कैवल्य-दीपिका टीकाको न देखनेसे ही हुई है। दूसरी बात यह है

---

* यस्य व्याकरणे वरेण्यघटनाः स्फीताः प्रबन्धा दश
प्रख्याता नव वैद्यकेऽपि तिथिनिर्धारार्थमेकोऽद्भुतः।
साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य च
भूगीर्वाणशिरोमणेरिह गुणाः के के न लोकोत्तराः॥

कि हेमाद्रिने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में तथा 'दानखण्ड' में भी भागवतके वचन उद्धृत किये हैं। यदि भागवत बोपदेवकृत होता, तो धर्मनिर्णयके प्रसङ्गमें हेमाद्रि उसका उद्धरण नहीं देते। यह तो हुई बोपदेवके सम्बन्धकी बात। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवत बहुत ही प्राचीन ग्रन्थ है। उनमेंसे कुछ थोड़े-से यहाँ लिखे जाते हैं—

१—द्वैतवाद अथवा स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादके प्रसिद्ध आचार्य पूर्णप्रज्ञ अथवा आनन्दतीर्थ जो मध्वाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका जन्म ईसाकी बारहवीं शताब्दीके अन्तमें अर्थात् सन् ११९९ में हुआ था। बोपदेवका समय तेरहवीं शताब्दीका अन्तिम भाग है और मध्वाचार्यने श्रीमद्भागवतपर एक टीका लिखी है, जिसका नाम है—'भागवततात्पर्यनिर्णय'। यदि मध्वाचार्यसे पूर्व श्रीमद्भागवत विद्यमान न होता और प्रामाणिक ग्रन्थ न माना जाता, तो वे उसपर टीका क्यों लिखते? उन्होंने भागवतपर पहले-पहल टीका लिखी हो, ऐसी बात नहीं है। उनकी टीकामें अनेक प्राचीन टीकाकारोंके नाम हैं—जिनमें विद्वद्वर श्रीहनुमान्, आचार्य शङ्कर और चित्सुखाचार्यका भी निर्देश है। उन्होंने गीताकी टीकामें भी नारायणाष्टकाक्षरकल्पसे एक उद्धरण दिया है, जसमें श्रीमद्भागवतको पञ्चम वेद कहा गया है।

२—विशिष्टाद्वैत एवं श्रीसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीरामानुजाचार्यने अपने वेदान्ततत्त्वसारमें श्रीमद्भागवतका नाम लेकर कई वचन उद्धृत किये हैं। इनका समय श्रीमध्वाचार्यजीसे भी बहुत पूर्व है। इनका जन्म सन् १०१७ ई० में हुआ था। ग्यारहवीं

शताब्दी ही इनका मुख्य कार्यकाल है। 'वेदस्तुति' (दशम स्कन्धका ८७ वाँ अध्याय) और 'एकादश स्कन्ध' के नामसे भी इन्होंने भागवतके वचन उद्धृत किये हैं।

३—वोपदेवके समकालीन हेमाद्रिने भागवतके टीकाकारके रूपमें श्रीधरस्वामीका नामोल्लेख किया है। श्रीधरस्वामीने विष्णुपुराणकी टीकामें चित्सुखाचार्यकी चर्चा की है। इस प्रकार बोपदेवसे प्राचीन श्रीधर और श्रीधरसे भी प्राचीन चित्सुखाचार्य सिद्ध होते हैं। शङ्कराचार्यके सम्प्रदायमें श्रीचित्सुखाचार्यजी तीसरे आचार्य माने जाते हैं। इनकी बनायी हुई 'चित्सुखी' अथवा 'तत्त्वप्रदीपिका' बहुत ही विख्यात है। इनके समयका निर्णय शङ्कराचार्यके समयपर निर्भर करता है। शाङ्करसम्प्रदाय और मठोंकी आचार्यपरम्पराकी दृष्टिसे ईसासे चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व ही सिद्ध होता है। यदि आधुनिक अन्वेषकोंकी भाँति शङ्कराचार्यका समय पाँचवीं-छठी अथवा सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जाय, तो भी चित्सुखाचार्यका समय नवीं शताब्दी सिद्ध होता है। उन्होंने भागवतपर टीका लिखी थी, जिसकी चर्चा मध्वाचार्य, श्रीधरस्वामी एवं विजयतीर्थ—सभी करते हैं। इससे भागवतका उस समय होना स्वयं ही सिद्ध है।

४—बनारसके क्वीन्सकालेजसे सम्बद्ध सरस्वतीभवन पुस्तकालयमें श्रीमद्भागवतकी एक प्राचीन प्रति सुरक्षित है। वह प्राचीन लिपिमें लिखी हुई है। महामहोपाध्याय पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदीने एक बङ्गीय विद्वान्से लेकर उसे बहुत दिनोंतक अपने पास रक्खा। सन् १९१६ ई० में युक्तप्रान्तीय सरकारने उसे मोल ले लिया।

उसपर जो संवत् लिखा हुआ था, वह बारहवीं शताब्दीके लगभगका था। वर्णमालाके क्रम-विकासकी दृष्टिसे उसकी लिपि ठीक बारहवीं शताब्दीकी ही जान पड़ती है। महामहोपाध्याय पण्डित श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, भूतपूर्व प्रिन्सिपल गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेजने ऐसा ही वक्तव्य दिया है, जो उसकी वर्णमालाके छायाचित्र सहित 'कल्याण' के 'कृष्णाङ्क' में छपा है। इसमें रासलीला आदि प्रसङ्गोंका पूरा वर्णन है। यह प्रति तबकी लिखी हुई है जब बोपदेवका जन्म भी नहीं हुआ था।

५—विद्यारण्य स्वामी, जिनका समय तेरहवीं शताब्दी निश्चित हो चुका है, उनके गुरु आत्मपुराणके रचियता श्रीशङ्करानन्दजी गीताकी अपनी टीका गीतातात्पर्यबोधिनीमें भागवतके बहुत-से— 'बन्धो मोक्ष इति व्याख्या' आदि श्लोक उद्धृत करते हैं और लिखते हैं—'ये भगवान्के वचन हैं।' अवश्य ही वे बारहवीं शताब्दीमें विद्यमान थे। यदि श्रीमद्भागवत उस समय लोकप्रिय नहीं होता तो वे उसका प्रमाण उद्धृत कैसे करते? इससे सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवत उस समय प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था।

६—काश्मीरके प्रत्यभिज्ञ नामक सम्प्रदायके प्रधान आचार्य अभिनवगुप्तने, जो संस्कृत-साहित्य और साम्प्रदायिकोंमें बड़े ही सम्मान और प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं, अपने मतकी स्थापनाके लिये गीतापर एक संक्षिप्त टीका लिखी है। गीताके चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोककी व्याख्या करते समय उन्होंने श्रीमद्भागवतका नाम लेकर कई श्लोक उद्धृत किये हैं—कुछ दूसरे स्कन्धके हैं और एक

ग्यारहवें स्कन्धका। यह व्याख्या छपी हुई मिलती है। आचार्य अभिनवगुप्तका समय दसवीं शताब्दी निश्चित है, क्योंकि उन्होंने 'बृहत् प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में स्वयं ही अपने समयका उल्लेख किया है*। यह समय काश्मीर प्रदेशमें प्रचलित वर्ष-गणनाके अनुसार है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अभिनवगुप्ताचार्य शैव थे और श्रीमद्भागवत वैष्णव ग्रन्थ है। यदि भागवतका निर्माण थोड़े दिनोंका हुआ होता, अथवा वह अप्रामाणिक ग्रन्थ होता, तो वे श्रीमद्भागवतका उद्धरण कदापि नहीं दे सकते थे। दूसरी बात यह है कि यदि श्रीमद्भागवत दशम शताब्दीसे कुछ ही पूर्वका बना होता, तो दशम शताब्दीमें उसका काश्मीर पहुँचना कठिन हो जाता। उन दिनों प्रेस तो थे नहीं और अभिनवगुप्ताचार्यका सम्प्रदाय भी भिन्न था; ऐसी अवस्थामें श्रीमद्भागवतका वहाँ पहुँचना उसकी प्राचीनता और सर्वप्रियताका उत्तम प्रमाण है।

७—ईश्वरकृष्णविरचित सांख्यकारिकापर माठराचार्यने एक टीका लिखी थी। ईस्वी सन् ५५९ और ५६९ के बीचमें उस टीकाका अनुवाद चीनी भाषामें हुआ। अनुवादक थे परमार्थ नामके बौद्ध पण्डित। विचार करनेपर मालूम होता है कि अनुवादके समयसे सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व संस्कृतमें माठर वृत्तिकी रचना हो चुकी होगी। उस वृत्तिमें श्रीमद्भागवतके पहले स्कन्धके छठे अध्यायका पैंतीसवाँ एवं आठवें अध्यायका बावनवाँ श्लोक उद्धृत है। इससे सिद्ध होता है कि सन् ५०० ई० के लगभग श्रीमद्भागवत विद्यमान था।

---

* इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ॥

८—श्रीशंकराचार्यके समयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। ईसाके पूर्व चार-पाँच सौ वर्षसे लेकर ईसाकी सातवीं-आठवीं शताब्दी तक उनका समय माना जाता है। मठों और आचार्योंकी परम्परा आदिके विचारसे अधिकांश विद्वानोंने उन्हें ईसाके पूर्वका ही माना है। उन्होंने पद्मपुराणान्तर्गत 'वासुदेवसहस्रनामावली' की टीकामें दो स्थानपर श्रीमद्भागवतका उल्लेख किया है। पहले शतकके पाँचवें नामपर वे लिखते हैं—'स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा परात्परः' इति भागवते। पहले शतकके पचपनवें नामपर भी उन्होंने 'पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा' इत्यादि श्लोक उद्धृत करके भागवतका नामनिर्देश किया। सर्वसिद्धान्तसंग्रह' एवं 'चतुर्दशमतविवेक' ग्रन्थमें उन्होंने लिखा है—'परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेनोद्धवायोपदिष्टः।' अर्थात् परमहंसोंके धर्मका भागवतपुराणमें श्रीकृष्णने उद्धवको उपदेश किया है।

इसके अतिरिक्त श्रीशङ्कराचार्यकृत गोविन्दाष्टक नामका एक स्तोत्र है। उसके एक श्लोकमें कहा गया है कि मां यशोदाने श्रीकृष्णको डांटकर पूछा—'क्यों रे कन्हैया! तूने मिट्टी खायी है?' यशोदाकी डांट सुनकर श्रीकृष्ण डर गये और उन्होंने मुंह बा दिया। श्रीकृष्णके मुखमें यशोदाने चौदहों लोकके दर्शन किये।* यह कथा श्रीमद्भागवतके मृत्तिका-भक्षणके ही आधारपर लिखी गयी है। इसके अतिरिक्त 'प्रबोधसुधाकर' नामक ग्रन्थमें श्रीशङ्कराचार्यने भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका वर्णन किया है। ब्रह्माका मोहित

---

* मृत्स्नामत्सीहेति यशोदाताडनशैशवसंत्रासं
व्यादितवक्त्रालोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालम्।

होना, बछड़ोंका चुराना, सबके रूपमें श्रीकृष्णका हो जाना, गौओंका प्रेम देखकर बलरामका चकित होना आदि वर्णन भागवतके अनुसार ही मिलता है। गोपियोंका वर्णन करते हुए उन्होंने जो उनकी तन्मयावस्थाका वर्णन किया है, वह केवल भागवतमें ही है और उन्होंने लिखा भी है कि ये व्यासके वचन हैं। शङ्कराचार्य और भागवतके श्लोकोंकी तुलना कीजिये—

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
(भागवत)

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह॥
(शङ्कराचार्य)

श्रीमद्भागवतके वचनको अक्षरशः लेकर आचार्यने स्पष्ट कह दिया कि यह व्यासकी उक्ति है। इससे भागवत व्यासकृत है, यह भी सिद्ध होता है और साथ ही भागवतकी शंकराचार्यसे प्राचीनता भी सिद्ध हो जाती है।

९—श्रीशंकराचार्यके गुरु गोविन्दपाद और उनके गुरु श्रीगौडपादाचार्य थे, यह सम्प्रदाय-परम्परा और इतिहाससे सिद्ध है। उन्होंने पंचीकरणकी व्याख्यामें लिखा है—'जगृहे पौरुषं रूपम् इति भागवतमुपन्यस्तम्।' यह श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके तीसरे अध्यायका पहला श्लोक है। गौडपादाचार्यका दूसरा ग्रन्थ है—उत्तरगीताकी टीका। उसमें उन्होंने 'तदुक्तं भागवते' लिखकर दशम

स्कन्धके चौदहवें अध्यायका चौथा श्लोक उद्धृत किया है। वह श्लोक निम्नलिखित है –

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

केवल उद्धृत किया हो सो बात नहीं, माण्डूक्योपनिषद्पर उन्होंने जो कारिकाएँ लिखी हैं उनमें भी पूर्णरूपसे श्रीमद्भागवतका आश्रय लिया है। माण्डूक्यकारिकाके वहुत-से भाव भागवतके ही प्रसाद हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि गौडपादकी कारिकाओंसे पीछे भागवत बना है और कारिकाओंसे भागवतमें भाव लिये गये हैं, वे अद्वैतसम्प्रदायसे अनभिज्ञ हैं; क्योंकि सम्प्रदायमें व्यासके शिष्य शुकदेव और शुकदेवके शिष्य गौडपाद माने जाते हैं। इसलिये यही मानना सर्वथा युक्तियुक्त है कि गौडपादने कारिकामें भागवतका भाव लिया है।

१०—सन् ९५७ ई० से सन् १०३० ई० तक महमूद गज़नवी भारतपर बार-बार आक्रमण करता रहा। उन दिनों एक मुसलमान अल्बेरूनीने भारतमें रहकर हिन्दू-धर्म और शास्त्रोंका अध्ययन किया और उसके आधारपर एक पुस्तक लिखी। उसके लिखनेका समय सन् १०३० ई० है। सन् १९१४ ई० में सचाऊ साहबने उसका अंग्रेजी अनुवाद किया और वह टबनर ग्रन्थमाला

लंदनमें प्रकाशित हुआ। अब उसका हिन्दी-अनुवाद भी हो चुका है। उससे सिद्ध होता है कि सन् १००० ई० के लगभग भारतमें विष्णुपरक श्रीमद्भागवत प्रसिद्ध था और उसकी गणना प्रामाणिक ग्रन्थोंमें थी।

११—राजशाही जिलेमें जमालगंज स्टेशनके पास तीन मीलपर पहाड़पुर नामक एक ग्राम है; जैसा कि खोजसे मालूम हुआ है, उसका नाम सोमपुर धर्मपाल विहार है। सन् १९२७ ई० की खुदाईमें वहाँ बहुत-सी मूर्तियाँ, स्तूप, और शासन-पत्र प्राप्त हुए हैं। उनके अनुसार वहाँ जितनी चीजें मिली हैं, सब पाँचवीं सदीकी हैं। उनमें श्रीराधाकृष्णकी युगलमूर्ति भी है। आधुनिक अन्वेषकोंका मत है कि श्रीमद्भागवतके पूर्व श्रीराधाकृष्णकी युगल उपासना प्रचलित न थी, अन्यथा श्रीमद्भागवतमें राधाकी चर्चा भी अवश्य होती।* यदि उनकी यह बात थोड़ी देरके लिये मान ली जाय, तो भी पाँचवीं सदीमें राधाकृष्णकी मूर्तियोंका मिलना इस बातको सूचित करता है कि श्रीमद्भागवतकी रचना उससे पूर्व हो चुकी थी।

१२—दिल्लीश्वर प्रसिद्ध हिंदू नरपति महाराज पृथ्वीराजके दरबारी कवि और उनके मन्त्री चंदबरदाईने, जिनकी प्रतिभा सन् ११९१ ई० में प्रसिद्ध हो चुकी थी, अपने 'पृथ्वीराजरासो' ग्रन्थमें परीक्षित्के सर्पद्वारा डसे जानेकी, भगवान्के दसों अवतारोंकी

---

*आधुनिक ऐतिहासिकोंकी यह मान्यता सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि श्रीराधाकृष्णकी उपासना आधुनिक है, तथापि 'तुष्यतु दुर्जनः' न्यायसे उनके लिये ही उनका मत उद्धृत कर दिया गया है।

तथा श्रीकृष्णके भागवतोक्त चरित्रकी कथा कहते हुए स्पष्ट शब्दोंमें श्रीमद्भागवतका उल्लेख किया है—

'भागवत्त सुनहि जो इक्क चित्त, तौ सराप छुट्टय अक्रम।'
'...कीर (शुकदेव) परिषत्त (परीक्षित) सम।'
'लीला ललिता मुरारकी सुख मुनि कहिय अपार।'

चन्दवरदाई बोपदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं। भागवतको बोपदेवकृत बतलानेवालोंमेंसे कुछ लोगोंने बोपदेवको गीतगोविन्दकार भक्त कवि जयदेवका भाई बतलाया है, जो सर्वथा असङ्गत बात है; क्योंकि जयदेव गौड़ेश्वर लक्ष्मणसेनके दरबारी कवि थे, जिन्हें सन् १११८ ई० में अधिकार मिला था और बोपदेव हुए हैं तेरहवीं शताब्दीमें। चन्दवरदाईने भी अपने 'रासो' में जयदेव कविका उल्लेख किया है। इससे भी सिद्ध है, श्रीमद्भागवत बोपदेवसे बहुत पहले रचा गया है।

यहाँ जिन प्रमाणोंका उल्लेख किया गया है, वे बहुत ही थोड़े हैं। भारतके प्रायः सभी बड़े-बड़े विद्वान्, आचार्य और संतोंने श्रीमद्भागवतके प्रमाण उद्धृत करके अपनी-अपनी कृतियोंको गौरवान्वित किया है। इन प्रमाणोंसे इतनी बात तो बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि ईसाके पूर्व भी श्रीमद्भागवत विद्यमान था। जो लोग इसको आधुनिक ग्रन्थ कहते हैं, उनका मत कदापि ग्राह्य नहीं है।

इतना सिद्ध हो जानेपर कि श्रीमद्भागवत महापुराण है और वह ईसासे बहुत पहले विद्यमान था, यह प्रश्न होता है कि अन्ततः

इसकी रचना कब हुई । पद्मपुराणान्तर्गत भागवतमाहात्म्यमें श्रीमद्भागवतके तीन सप्ताहोंका वर्णन आता है—

१—भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमनके पश्चात् तीस वर्ष कलियुग बीत जानेपर भाद्रपद मासमें नवमी तिथिसे श्रीशुकदेवने परीक्षित्को कथा सुनाना प्रारम्भ किया था ।

२—उसके पश्चात् दो सौ वर्ष और व्यतीत हो जानेपर अर्थात् कलियुग संवत् २३० आषाढ शुक्ल नवमीसे गोकर्णने धुन्धुकारीको कथा सुनायी थी ।

३—उसके पश्चात् तीस वर्ष और बीत जानेपर अर्थात् कलियुग संवत् २६० में सनत्कुमारादिने यह कथा सुनायी थी । (देखिये भागवत-माहात्म्यका अध्याय—६)

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमनकी लीलाके पश्चात् तीस वर्षके भीतर ही भगवान् व्यासने महाभारत और श्रीमद्भागवतका निर्माण करके अपने शिष्योंको पढ़ा दिया था ।

प्रतिपादन शैली

वर्णनकी दृष्टिसे श्रीमद्‌भागवतका चार प्रकारसे विभाजन किया जा सकता है—घटनात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक और गीतात्मक। घटनात्मक भागमें एक तो भगवान्‌की लीला है और दूसरा साधारण चरित्र। साधारण चरित्र तीन भागोंमें विभक्त है—इतिहास, भविष्य और उपाख्यान। इतिहासके दो प्रयोजन हैं—एक तो किसी उपदेश, स्तुति अथवा गीतका उपक्रम या उपसंहार करना और दूसरा कोई विशेष शिक्षा देना। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें सूत-शौनक, व्यास-नारद, परीक्षित्-शुकदेव; दूसरे स्कन्धमें ब्रह्मा-नारद और इसी प्रकार प्रायः सभी स्कन्धोंमें कथा-विशेषका उपक्रम करनेके लिये अनेक व्यक्तियोंका वर्णन है। प्रथम स्कन्धमें भीष्मकी कथा केवल उनकी स्तुतिका उल्लेख करनेके लिये आयी है। ऐसे ही गीतोंके प्रसंगमें भी देख सकते हैं। मनु, उनके वंश और वंशानुचरितका वर्णन सद्धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही आता है—ऐसा श्रीमद्भागवतका सिद्धान्त है—'मन्वन्तराणि सद्धर्मः'। इसके अन्तर्गत देव-दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी, सबके चरित्र आ जाते हैं। भागवतके बारहवें स्कन्धमें वेद-विभाजनके प्रसंगमें उनके अध्ययन करनेवाले अनेक ऋषियोंका वर्णन ग्रन्थके उपसंहारके लिये हुआ है। भगवान्‌की लीला और साधारण चरित्र दोनों ही सत्य हैं—इतिहास हैं।

श्रीमद्भागवतमें भविष्यका भी वर्णन आता है। साधारण योगी और ज्योतिषी भी भविष्यकी बातें जान लिया करते हैं। पुराणोंके

निर्माता महर्षि व्यास तो विशिष्ट पुरुष हैं। उन्हें प्रकृतिकी तहमें छिपे हुए संस्कारोंका प्रत्यक्षवत् ज्ञान है। कुछ लोग पुराणोंमें भविष्य, परिस्थिति और वंशोंका वर्णन पढ़कर ऐसा समझने लगते हैं कि इसमें जिन–जिन घटनाओं और व्यक्तियोंका वर्णन हुआ है, उनके पश्चात् इस ग्रन्थका निर्माण हुआ है। परन्तु उनकी यह समझ ऋषि-प्रतिभाकी महत्ता न जाननेके कारण ही है। पुराणोंमें वर्तमानकालके गुरुण्ड आदि राजाओं और भविष्यमें होनेवाली वंशपरम्परा तथा कल्कि-अवतार आदिका उल्लेख है। यदि आगेके लोग ऐसा मानने लगें कि इन व्यक्तियोंके होनेके पश्चात् पुराणोंका निर्माण हुआ है, तो उनका निर्णय कितना भ्रमपूर्ण तथा उपहासास्पद होगा? इसलिये उन भविष्यकी वंशावलियोंको भूत-वंशावलियोंके समान ही सत्य मानना चाहिये।

परम तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करानेके लिये और जन्ममृत्युरूप संसारसे मुक्तिका मार्ग बतानेके लिये रूपकके द्वारा भी आध्यात्मिक तत्त्वका वर्णन होता है। पहले एक कहानी-सी कह दी जाती है। सरल बुद्धिके पुरुषोंको वह याद हो जाता है। पीछे उसके पात्रों और कृत्योंका स्पष्टीकरण कर दिया जाता है कि ये पात्र स्थूल जगत्के नहीं, मानसिक हैं और इनके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे रूपकोंको उपाख्यान कहते हैं। श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें पुरञ्जनोपाख्यान और पञ्चम स्कन्धमें भवाटवी-उपाख्यानका वर्णन हुआ है। उनके द्वारा जो विशेष तत्त्व लक्षित कराया गया है, उसका वहाँ निर्देश कर दिया है। वर्तमानकालके कुछ बुद्धिमान् पुरुष पुराणोंकी सब कथाओंको ही रूपक अथवा उपन्यास सिद्ध करनेकी

चेष्टा करते हैं। वे यथाकथञ्चित् आध्यात्मिकत् पात्रोंके रूपमें उनकी संगति भी लगा लेते हैं और कहते हैं कि इसका यही अर्थ ठीक है, दूसरा नहीं। तटस्थ दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा निश्चय होता है कि इन कथाओंको सर्वथा रूपक अथवा उपन्यास कह देना बड़े साहसकी बात है। त्रेताके राम-रावण, अयोध्या-लंका और द्वापरके कृष्ण-कंस और कौरव-पाण्डवोंको यदि रूपक मान लिया जाय, तो भारतीय इतिहास और प्राचीन मर्यादाका लोप ही हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास एवं पुराणोंकी रचनाशैली इतनी महान् है कि बुद्धिमान् पुरुष चाहे तो उनका दूसरा अर्थ भी कर सकता है, परन्तु इस बातको भगवान् व्यासके काव्यकौशलकी महिमा समझनी चाहिये। उनकी दिव्यदृष्टिसे पुराणोंके आध्यात्मिक पहलू भी छिपे नहीं रहे होंगे। परन्तु ये घटनाएँ भौतिक नहीं हैं, यह प्रवाद तो सर्वथा असत्य है। श्रीमद्भागवतमें जहाँ उपाख्यानोंका वर्णन हुआ है, वहाँ उसका स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है कि यह रूपक है। जहाँ रूपक नहीं है, वहाँ रूपककी चर्चा भी नहीं है। इसलिये वे इतिहास हैं।

श्रीमद्भागवतका दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग उपदेशात्मक है। उपदेशोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—साधारण और विशेष। साधारण उपदेशोंमें उन अंशोंको लेना चाहिये जिनमें साधु-महात्माओंने, मित्रोंने, गुरुजनोंने और सगे-सम्बन्धियोंने उपदेश किये हैं। श्रीमद्भागवतके प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक संवादमें ऐसे उपदेश मिलते हैं, जिनके अनुसार आरचण करनेसे जीव अपना परम कल्याण प्राप्त कर सकता है। सभी उपदेशोंका सार है—विषयोंकी आसक्ति छोड़कर अपने कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान करते हुए भगवान्‌का

स्मरण करते रहना। आजतक संसारमें जितने दयालु महापुरुष हुए हैं, उन्होंने एक स्वरसे यह बात कही है। श्रीमद्भागवतमें जगह-जगह तरह-तरहसे यही बात दोहरायी गयी है। ज्योतिषचक्रका वर्णन करके भूगोलका वर्णन करके और अनेक राजा-प्रजाओंका वर्णन करके यही बात चित्तमें बैठानेकी चेष्टा की गयी है कि जीव-जीवनकी पूर्णता केवल भगवान्‌को प्राप्त करनेमें ही है। चाहे इस बातको थोड़ेमें समझ लिया जाय और चाहे समस्त शास्त्रोंको कण्ठस्थ करके समझा जाय, समझना यही पड़ेगा; बिना समझे निस्तार नहीं है।

विशेष उपदेशके रूपमें श्रीमद्भागवतके अनेक अंशोंका नाम लिया जा सकता है। उनके भी कुछ विभाग किये जा सकते हैं— जैसे गीतारूपसे हंसगीता, कपिलगीता और उद्धवके प्रति भगवान्‌के उपदेश आदि; प्रकरणरूपसे चतुःश्लोकी, सप्तश्लोकी भागवत आदि; दीक्षारूपसे ध्रुवके प्रति नारदके उपदेश आदि; क्रियारूपसे युधिष्ठिरके यज्ञमें श्रीराम-कृष्णके द्वारा अतिथियोंका पाद-प्रक्षालन आदि। और भी विशेष उपदेशके मानसिक आदि भेद हो सकते हैं। उन सबका श्रीमद्भागवतमें वर्णन है। श्रीमद्भागवत वैष्णवोंकी परम सम्पत्ति है और परमहंसोंके सर्वोच्च ज्ञानका इसमें प्रकाश हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि इसके सुननेकी इच्छामात्रसे तत्क्षण हृदयमें आकर भगवान् बैठ जाते हैं। श्रीमद्भागवतकी सबसे बड़ी विशेषता है— 'यस्मिन् ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्' अर्थात् जिसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्यका आविष्कार किया गया है। और ग्रन्थोंमें जिस नैष्कर्म्यका वर्णन है वह ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे रहित है; परन्तु इसका नैष्कर्म्य उनके सहित है। यही इसकी सबकी

अपेक्षा अपूर्वता है। श्रीमद्भागवतने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है—'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते।' भगवद्भक्तिरहित ज्ञानकी सर्वोच्च स्थिति नैष्कर्म्य भी शोभायमान नहीं होती।' अर्थात् ज्ञानकी शोभा इसीमें है कि वह भक्तियुक्त हो। जो लोग भक्तिरहित ज्ञान सम्पादन करते हैं, उनकी निन्दा भी स्थान-स्थानपर मिलती है।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ कहीं ज्ञानका प्रसंग आया है—तीसरे, चौथे, सातवें, ग्यारहवें और बारहवें स्कन्धोंमें, वहाँ बड़ी युक्ति और अनुभवकी भाषामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंके अभिमानियोंसे विलक्षण, समस्त वृत्तियोंसे परे निर्गुण ब्रह्मतत्त्वका विवेचन हुआ है। रज्जु-सर्प, स्वप्न, गन्धर्वनगर आदिकी उपमाओंसे जगत्की असत्यताका भी निरूपण हुआ है और अहंग्रह उपासनाको भी बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया है। ज्ञानके अन्तरङ्ग साधनोंमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनको विशेष स्थान देनेपर भी 'तत्रोपायसहस्राणाम्' कहकर भक्तिको ही मुख्य माना गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञानका आविर्भाव होनेके लिये शुद्ध अन्तःकरणकी आवश्यकता होती है। बिना शुद्ध अन्तःकरण हुए, श्रवण किये हुए तत्त्व हृदयमें प्रवेश नहीं करते और उनका मनन भी नहीं होता। अन्तःकरणकी शुद्धिका अर्थ है—समस्त कामनाओंका अभाव अर्थात् पूर्ण निष्कामता। यह तभी सम्भव है जब सारे कर्म भगवदर्थ होने लगें, आत्मोपलब्धि अथवा भगवत्प्राप्तिकी कामनामें सारी कामनायें समा जायँ। इसलिये भगवत्-कामरूप भक्ति अन्य समस्त कामनाओंको नष्ट करनेवाली होनेके कारण अन्तः-करणशुद्धिका प्रधान साधन है, ऐसा समझना चाहिये। निरवलम्ब निष्कामता टिकाऊ नहीं हो सकती। निष्काम होनेके लिये एक महान्

उद्देश्य और बलिष्ठ आधारकी आवश्यकता है, जो कि भगवान्के अतिरिक्त और कोई हो नहीं सकता। इसलिये ज्ञानके प्रकरणोंमें ऐसा उपदेश प्राप्त होता है कि भगवान्का आश्रय लेकर, आत्मशुद्धि करते हुए आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिका केवल साधनके रूपमें ही वर्णन किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। कई स्थानोंपर तो ज्ञान और मुक्तिसे भी बढ़कर भक्तिको बतलाया गया है। पंचम स्कन्धमें आया है—'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न तु भक्तियोगम्' अर्थात् भगवान् मुक्ति तो देते हैं, परन्तु भक्ति नहीं देते। तात्पर्य यह कि भक्ति मुक्तिसे भी बड़ी है। भगवान्के सेवाप्रिय भक्तोंका वर्णन करते हुए कहा गया है कि सार्ष्टि, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति भगवान्के देनेपर भी भक्त लोग नहीं लेते; वे केवल भगवान्की सेवा ही करना चाहते हैं। तीसरे स्कन्धमें भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिसे कहा है कि 'ऊँची श्रेणीके संत मुझसे एक होना नहीं चाहते; वे मेरी सेवा करते हैं, मेरी आज्ञाओंका पालन करते हैं और आपसमें मेरी लीला कहा-सुना करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंको मैं दर्शन देता हूँ, उनसे बातें करता हूँ और उनका सेवक बन जाता हूँ।' इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि भक्ति स्वयं साध्य और फलरूप भी है।

अद्वैतसिद्धिकार श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने 'भक्तिरसायन' में साध्य-साधनरूप भक्तिकी सङ्गति अधिकारीभेदसे लगायी है। वे कहते हैं कि साधन-भक्तिका अनुष्ठान तो सभीको करना पड़ता है।

साधन-भक्तिका अनुष्ठान करनेपर अधिकारी-भेद प्रकट हो जाता है। दो प्रकारके अधिकारी होते हैं—एक तो कोमल हृदयके और दूसरे कठोर हृदयके। कोमल हृदयके अधिकारी वे हैं, जो भगवान्‌की लीला, दयालुता, सुहृदता आदिका वर्णन सुनकर द्रवित हो जाते हैं, उनकी आँखोंसे आँसू गिरने लगते हैं, गला रुँध जाता है और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। ऐसे अधिकारियोंके जीवनमें साधन-भक्तिके फलस्वरूप साध्य भक्तिका उदय होता है और भागवतके शब्दोंमें 'भक्त्या संजातया भक्त्या' अर्थात् भक्तिकी साधनासे प्रेमाभक्तिका उदय होनेपर वे परमात्माको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं और सर्वदा, सर्वत्र और सर्वरूपमें उन्हें भगवान्‌के ही दर्शन होने लगते हैं। जो कठोर हृदयके अधिकारी हैं, वे साधन-भक्तिका अनुष्ठान करके धीरे-धीरे आत्मशुद्धि सम्पादन करते हैं और पश्चात् श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें शरीर और संसारका अस्तित्व नहीं रहता, वे विशुद्ध चेतनके रूपमें सर्वदाके लिये स्थित हो जाते हैं।

वास्तविक दृष्टिसे ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं है। शास्त्रमें कहा है कि भक्तिकी पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञानकी पराकाष्ठा भक्ति। जहाँ भक्तिसे ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाते हैं, वहाँ भक्तिका अर्थ साधन-भक्ति है और जहाँ ज्ञानसे भक्तिको श्रेष्ठ बतलाते हैं, वहाँ ज्ञानका अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परमज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं। रुचिभेदके कारण नामभेद हो गया है। कोई किसी नामको पसंद करता है, कोई किसी नामको। श्रीमद्भागवतमें स्थान-

स्थानपर भक्ति और ज्ञानके साधनोंका वर्णन हुआ है। भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण; उनके श्रीविग्रहको अपने सामने साक्षात् अनुभव करते हुए पादसेवन, अर्चन और वन्दन; उनके सान्निध्यका अनुभव करते हुए उनके सख्य, दास्य आदिका सम्बन्ध-स्थापन और सम्पूर्ण भावसे उनके प्रति आत्मसमर्पण—यह नवधा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें इस नवधा भक्तिके लक्षण और उदाहरण बहुत-से स्थानोंमें पाये जाते हैं। निर्गुण भक्तियोगका लक्षण करते हुए कहा गया है कि भगवान्‌का वर्णन सुनकर चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ इस प्रकार भगवान्‌को विषय करने लगें, जैसे गङ्गाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती है। यह स्मरणकी अविच्छिन्नता ही निर्गुण भक्ति है। ज्ञानका लक्षण करते हुए कहा गया है कि जब अपनी अनुभूतिसे ऐसा निश्चय हो जाय कि यह भाव और अभावरूप समस्त कार्य-कारणात्मक जगत् अविद्याके कारण ही आत्मामें प्रतीत हो रहा है, वास्तवमें इसकी कोई सत्ता नहीं है, केवल आत्मा-ही-आत्मा है, तब उसको ब्रह्मदर्शन समझना चाहिये। और भी कहा है कि जो वस्तु अन्वय और व्यतिरेककी दृष्टिसे सर्वदा अबाध है, उसीका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आत्माके अज्ञानका इतना ही रूप है कि केवल आत्मतत्त्वमें विकल्पकी सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है। इस ज्ञानकी उपलब्धि अमानित्व आदि साधन और तत्त्वविचारके द्वारा होती है। जब ज्ञान और भक्ति दोनोंपर ही विचार करते हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही दृष्टियाँ जगत्‌की आसक्ति और चिन्तन छोड़कर केवल परमात्मामें लीन हो जानेके पक्षमें हैं। परमात्माका स्वरूप सगुण है कि निर्गुण, निराकार है कि साकार—यह

भेद परमात्माके पास पहुँचनेपर खुल जाता है। जो लोग विषयोंकी आसक्ति और चिन्तन न छोड़कर परमात्माके चिन्तन और स्मरणकी चेष्टा नहीं करते और परमात्माके स्वरूपको सगुण अथवा निर्गुण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया करते हैं, वे केवल कल्पना-लोकमें बुद्धिकी सीमाके भीतर ही चक्कर काट रहे हैं। परमात्माका स्मरण रहनेसे स्वयं उसके स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है, चाहे वह स्वरूप सगुण हो अथवा निर्गुण।

ज्ञान और भक्ति दोनों ही अन्तरंग भाव हैं। इसलिये वे अन्तरंगमें रहनेवाले परमात्माका साक्षात् स्पर्श करते हैं। इन्द्रियोंसे परे मन, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे परमात्मा है—ऐसा शास्त्रोंका निर्णय है। जो साधन जितना अन्तरंग होगा, वह उतना ही भगवान्के निकट होगा। इस दृष्टिसे इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले कर्म ज्ञान अथवा भक्तिके सहायक होकर ही परमात्माकी प्राप्तिके साधन होते हैं। वे स्वयं साक्षात् परमात्माकी प्राप्तिके साधन नहीं हैं। चाहे स्वाध्याय, आचार्यसेवन आदि कर्मोंके द्वारा ज्ञानकी साधना की जाय अथवा कर्तव्यपालन, पूजा-पाठ आदिके द्वारा भक्तियोगकी साधना की जाय—कर्म इन्हींका साधन होगा। जहाँ निष्काम कर्मयोगका निष्ठाके रूपमें वर्णन आया है, वहाँ निष्कामताकी ही प्रधानता है। इसलिये वह निष्कामता भक्तियोगके ही अन्तर्गत है; क्योंकि भगवदर्थ कर्म ही निष्काम कर्म है। कर्म प्रायः तीन प्रकारके होते हैं—निष्काम, सकाम और निरर्थक। निरर्थक कर्म निरर्थक ही हैं, उनका कहीं भी उपयोग नहीं है। सकाम कर्म दो प्रकारके होते हैं—शास्त्रानुकूल और शास्त्रप्रतिकूल। शास्त्रप्रतिकूल कर्म कुछ दिनोंके

लिये इस लोकमें सफल हो सकते हैं, परन्तु आगे चलकर उनके फलस्वरूप आसुरी योनि और नरकका प्राप्त होना निश्चित है। शास्त्रके अनुकूल जो सकाम कर्म होते हैं उनसे इस लोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है, परन्तु भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भगवत्प्राप्ति होती है निष्काम कर्मसे, जो कि सर्वदा सात्त्विक और शास्त्रानुकूल ही होते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवदर्थ कर्मको ही निष्काम कर्म माना गया है। भगवान्‌से रहित कर्म किसी कामके नहीं। श्रीमद्भागवतमें तो भगवान्‌के लिये होनेवाले कर्मोंको कर्म ही नहीं माना गया है, उन्हें निर्गुण कहा गया है। वे भक्तिके ही अन्तर्गत हैं, स्वयं भक्ति ही हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानयोग और भक्तियोगमें सहायक नाना प्रकारके योग और उनके फलोंका वर्णन हुआ है, जो श्रीमद्भागवतके मूलमें ही देखने योग्य है। इन सब साधनोंमें सर्वसाधारणके लिये अधिकारभेदसे रहित सर्वकालोपयोगी भगवान्‌के नामका जितना सुन्दर वर्णन हुआ है, वह श्रीमद्भागवतके छठे और ग्यारहवें स्कन्धमें देखना चाहिये और उसका विशेषरूपसे आश्रय लेना चाहिये; क्योंकि कलियुगमें यही एक ऐसी क्रिया है, जिसके द्वारा सब लोग भगवान्‌का प्रेम-प्रसाद और साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवतका तीसरा महत्त्वपूर्ण अंश स्तुत्यात्मक है। स्तुतिका साधारण अर्थ है—प्रशंसा। ऐसा कहा जाता है कि स्तुतियोंमें अर्थवादका होना अनिवार्य है; परन्तु यह बात उन्हीं स्तुतियोंके बारेमें लागू है, जो परमात्माके अतिरिक्त और किसी देवता और मनुष्य आदिकी हैं। देवता एवं मनुष्य आदिके गुण, प्रभाव, शक्ति, कर्म आदि सीमित होते हैं; इसलिये उन्हें प्रसन्न करनेके लिये जब उनका

वर्णन आता है, तब बढ़ा-चढ़ाकर उनकी स्तुति की जाती है। और तो क्या, उन्हें ईश्वर कह दिया जाता है। वे अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं और स्तुति करनेवालोंको वरदान, पुरस्कार आदि देते हैं। परन्तु भगवान्के गुणोंकी सीमा नहीं है। उनके ऐश्वर्य, माधुर्य, चरित्र आदि सभी अनन्त हैं। उनका पूरा-पूरा वर्णन तो कोई करेगा ही क्या, अंशमात्र भी वर्णन नहीं कर सकता। जब भगवान्की शक्ति, क्रिया और स्वरूपका अंशमात्र भी वर्णन नहीं हो सकता तब उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तो भला, कोई कर ही कैसे सकता है? इसलिये भगवान्के गुणोंकी दृष्टिसे भगवान्की स्तुति नहीं हो सकती और वास्तवमें देखा जाय, तो सभी स्तुति करनेवाले यही कहकर चुप हो जाते हैं कि 'आपकी स्तुति नहीं की जा सकती।' फिर भी स्तुति है और भक्तोंकी दृष्टिसे होती है—'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः'।

कल्पना कीजिये कि कोई नन्हा-सा बच्चा है। उससे मनोरञ्जनके लिये कोई प्रश्न करता है—'तुम्हारे पिता कितने बड़े हैं?' इसके उत्तरमें वह अपने दोनों हाथ उठाकर थोड़ा उछल पड़ता है और कहता है—'इत्ते बले'। उससे पूछा जाता है—'समुद्रमें कितना पानी है?' वह अपने दोनों हाथोंको फैलाकर कहता है—'इत्ता पानी।' वह अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार जितना बड़ा बता सकता है, बतलाता है। उससे अधिक बड़प्पन प्रकट करनेका कोई साधन उसके पास है ही नहीं। तब क्या वास्तवमें उसके पिता उतने ही बड़े हैं और समुद्रमें उतना ही पानी है? वास्तवमें बालकने जितना बतलाया, उससे वे बहुत बड़े हैं। परन्तु बालककी इस चेष्टासे गुरुजन प्रसन्न ही होते हैं और बालकको भी प्रसन्नता होती

है। ठीक ऐसी ही बात भगवान्‌के सम्बन्धमें भी है। जिसकी बुद्धि ऐश्वर्य, माधुर्य आदि सद्‌गुणोंकी जितनी ऊँची कल्पना कर सकती है, जितना महान् आकलन कर सकती है, जिसकी वाणी जितने अधिक गम्भीर भावोंको अभिव्यक्त कर सकती है, वह उतना ही भगवान्‌के स्वरूप एवं गुणोंको सोचता एवं वर्णन करता है। भगवान् सस्नेह अपने नन्हे-से शिशुकी उड़ान और तोतली बोली देख-सुनकर प्रसन्न होते रहते हैं और बालक भी अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार उनका चिन्तन और वर्णन करके सन्तोषकी साँस लेता और शान्तिका अनुभव करता हैं। इसलिये भगवान्‌के गुणोंकी अपेक्षा न्यून होनेपर भी भक्तकी दृष्टिमें वह भगवान्‌की स्तुति है, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि भगवान्‌के सम्बन्धमें जो कुछ सोचा जाता है और जो कुछ कहा जाता है, वह भगवान्‌का ही आंशिक वर्णन होनेके कारण सर्वथा सत्य है; क्योंकि भगवान् सर्वरूप हैं। स्तुति करनेसे भगवान्‌के नाम, गुण, रूप, लीला आदिका स्मरण होता है, धीरे-धीरे स्तुति करनेवालोंके चित्तमें वह गाढ़ हो जाता है और अन्ततः उसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसीसे मनुष्यके जीवनमें भगवान्‌की स्तुति बहुत ही उपयोगी है और एक ऊँची साधना है।

श्रीमद्भागवतमें स्तुतियोंका बड़ा विस्तार है। प्रायः सभी स्तुतियाँ भगवान्‌की हैं। कुछ एक-दो दूसरे देवताओंकी भी हैं। श्रीमद्भागवतमें दूसरे देवताओंका तिरस्कार नहीं किया गया है। उसमें एकेश्वरवादके साथ ही बहुदेववादके लिये भी स्थान है। परन्तु अन्य देवताओंकी स्तुति उनकी प्रधानताके लिये नहीं की गयी हैं, बल्कि

उनके द्वारा भगवान्‌की महिमा वर्णन करनेके लिये ही की गयी है। जैसे द्वितीय स्कन्धके पाँचवें अध्यायमें देवर्षि नारद ब्रह्माकी स्तुति करते हैं; परन्तु उसका प्रयोजन यह है कि ब्रह्मासे भी उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान हो जाय। सातवें स्कन्धके तीसरे अध्यायमें हिरण्यकशिपुने ब्रह्माको ही ईश्वर कहकर उनकी स्तुति की है; परन्तु सम्पूर्ण सातवें स्कन्धका तात्पर्य ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ भगवान्‌को वतानेमें है। श्रीमद्भागवतमें अमुक कामना हो तो अमुक देवताकी पूजा करनी चाहिये—ऐसा कहकर अन्तमें वतलाया है कि निष्काम, सकाम और मोक्षकाम—सब प्रकारके लोगोंको भगवान्‌की ही पूजा करनी चाहिये। इसलिये और देवताओंकी स्तुतियाँ भी देवतापरक नहीं, भगवत्परक ही हैं।

भगवान्‌की स्तुतियाँ भी प्रायः दो प्रकारकी हैं—एक सकाम और दूसरी निष्काम। सकाम स्तुतियोंके भी अनेक भेद हैं—कारागारसे मुक्त होनेके लिये, क्रोध शान्त करनेके लिये, दुःखसे छूटनेके लिये—अनेक प्रकारकी स्तुतियाँ हैं। निष्काम स्तुतियोंके भी दो भेद हैं—एक तो वह जिनमें तत्त्वज्ञानकी प्रधानता है और दूसरी वह जिनमें साधनाकी प्रधानता। वेदस्तुति आदिके प्रसङ्ग तत्त्ववर्णनप्रधान हैं और पृथु, प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष ब्रह्मा आदिकी स्तुतियाँ साधनप्रधान हैं। तत्त्ववर्णनप्रधान स्तुतियाँ सारे जगत्‌का, वाणीका, विचारोंका, स्तुति करनेवालोंका भगवान्‌में पर्यवसान करके स्वयं भी उसीमें पर्यवसित हो जाती हैं (देखिये वेदस्तुतिका अन्तिम श्लोक)। साधनप्रधान स्तुतियोंमें आत्मसाक्षात्कार और मुक्तिका भी निषेध करके कहते हैं—'हमें सत्सङ्ग, लीलाके श्रवण-कीर्तन और भक्त-चरित्रमें

इतना आनन्द आता है कि उतना स्वरूपस्थितिमें भी नहीं आता' (ध्रुवस्तुति)। 'हमें दस हज़ार कान दे दो कि हम तुम्हारी कथा सुना करें' (पृथुस्तुति)। इन सभी स्तुतियोंसे आत्मशुद्धि होती है, भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है, साधनमें और भगवान्‌के स्वरूपमें निष्ठा होती है। श्रीमद्भागवतोक्त स्तुतियोंकी महिमा उनके भाव और विचारपूर्वक स्वाध्यायसे ही अनुभवमें आ सकती है।

श्रीमद्भागवतका चौथा भाग गीतात्मक है। यहाँ गीतात्मक शब्दसे तात्पर्य गीतासे नहीं, गीतसे है। गीता मुख्यतः भगवान् श्रीकृष्ण और गौणतः उनके भिन्न-भिन्न अवतारों द्वारा जगत्‌के कल्याणके लिये अर्जुन, उद्धव आदि अन्तरङ्ग भक्तोंको दिये गये उपदेश हैं और वे श्रीमद्भागवतके उपदेशात्मक भागके अन्तर्गत हैं—जैसे कपिलगीता, हंसगीता आदि। 'गीत' शब्दका अर्थ है—गायन। जब अन्तरात्मा अपनी व्यथा, अन्तर्वेदना और अनुभूतिको अपने अंदर संवरण नहीं कर पाती, धैर्यका बाँध टूट जाता है, तब अपने-आप ही, किसीको सुनानेके लिये नहीं, जो उद्गार निकलते हैं, उनका नाम गीत है। वह संसारकी कटुताके अनुभवसे, ज्ञानसे, विरहसे, प्रेमसे, प्रेम करनेकी इच्छासे, विरहकी सम्भावनासे अथवा अन्य कारणोंसे भी हृदयसे निकल पड़ता है—एकान्तमें भी और लोगोंके सामने भी, किसीकी अपेक्षा न करके भी और किसीको सम्बोधित करके भी; परन्तु ऐसे प्रसङ्ग बहुत थोड़े होते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे प्रसङ्ग बहुत थोड़े हैं और जितने हैं, उनमें अधिकांश गोपियोंके ही हैं और वे प्रेमके, विरहके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। उन्हें पढ़कर एक बार पत्थरका हृदय भी पिघल सकता है।

गोपियोंके गीत पाँच हैं, द्वारकाकी श्रीकृष्णपत्नियोंका एक है, पिङ्गलाका एक है और भिक्षु ब्राह्मणका एक है। पहले छः दशम स्कन्धमें हैं और शेष दो ग्यारहवें स्कन्धमें। और भी दो-एक हैं—जैसे ऐलगीत आदि।

पिङ्गलका गीत निर्वेद-गीत है। संसारकी कटुताके अनुभवसे उसके हृदयमें जो व्यथा हुई थी, वह उसमें फूटी पड़ती है—

'मेरे मनने मुझे जीत लिया। मैं ऐसे पुरुषोंसे प्रेम करना चाहती थी जो प्रेम कर नहीं सकते, स्वयं अस्तित्वहीन हैं। धन्य है मेरे मोहका विस्तार! मेरी मूर्खताकी हद है। मेरे प्रियतम परमात्मा निरन्तर मेरे पास रहते हैं और मेरी अभिलाषाओंको पूर्ण करना चाहते हैं, परन्तु मैं मूर्खतावश तुच्छ पुरुषोंकी सेवा करती रही। मैं निन्दित वृत्तिसे जीवन बिताकर अपने-आपको दुष्ट पुरुषोंके हाथ बेचती रही। इस दुष्ट शरीरके प्रति इतना मोह? इस मल-मूत्रपूर्ण अपवित्र शरीरके साथ इतनी आसक्ति? मैं ही इस गाँवमें सबसे गयी-बीती हूँ। अपने-आपको अपने प्रेमीपर निछावर कर देनेवाले भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरेसे प्रेम! इससे बढ़कर और मूढ़ता क्या होगी? भगवान् ही मेरे प्रियतम हैं—मेरी आत्मा हैं। उन्हें छोड़कर औरोंके हाथ अपनेको बेचना, यह मेरा ही काम था। उन लोगोंने मुझे क्या दिया? वे स्वयं मृत्युके ग्रास हैं। अच्छा हुआ, भगवान्‌ने कृपा करके मुझे निर्वेद तो दिया। अब मैं समझ गयी। अब उनके चरणोंकी शरण लेकर मैं उन्हीं अनन्त प्रेमसागर भगवान्‌में विहार करूँगी।' (भाग० ११। ८)

दूसरा गीत है—एक ब्राह्मण भिक्षुका। वह सात्त्विक और सदाचारी होनेपर भी लोगोंसे अपमानित और सताया हुआ था। वह लोगोंसे अपमानित होनेके समय भी गाया करता था—

'सुख-दुःखके हेतु कोई मनुष्य, देवता अथवा ग्रह आदि नहीं हैं; केवल मन ही कारण है। वही संसारचक्रकी धुरी है। उसीके आधारपर अच्छी-बुरी सृष्टि होती है। आत्मा तो असंग है, उसका कोई स्पर्श नहीं कर सकता। मन सचेष्ट होता है—उसे अपना स्वरूप मान लेनेपर आत्मा बद्ध-सा हो जाता है। सब कर्म-धर्म, यम-नियम, अध्ययन-दान मनोनिग्रहके लिये हैं। इसके शान्त हो जानेपर सर्वत्र शान्ति है। जिसका मन शान्त नहीं, उसकी क्रियाका कोई उपयोग नहीं; जिसका मन शान्त है, उसपर क्रियाका कोई प्रभाव नहीं। सब इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं। मनको जीत लिया तो सबको जीत लिया। उसको न जीतकर जगत्के शत्रुओंको जीतना मूर्खता है। शत्रुओंका स्रष्टा मन है। मनने ही शरीरको अपना माना; शरीरके रूपमें मन ही है, वही भटक रहा है। भौतिक पदार्थ भौतिक शरीरको ही दुःख पहुँचा सकते हैं—पहुँचायँ; अपने ही दाँतसे जीभ कट जाय तो क्रोध किसपर करें? यदि देवता ही दुःख देते हों तो दे लें, वे केवल अपने विकारको ही प्रभावित कर सकते हैं। आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं, फिर कौन किसको कैसे दुःख दे? सम्पूर्ण आत्मा ही है।' (भाग० ११। २३)

प्रेमोन्माद केवल वियोगमें ही नहीं होता, संयोगमें भी होता है। श्रीकृष्णके साथ रहनेवाली, श्रीकृष्णसे विहार करनेवाली द्वारकाकी

श्रीकृष्ण-पत्नियोंका चित्त उनकी लीलामें इतना तन्मय हो जाता है कि उन्हें स्मरण ही नहीं रहता कि हम श्रीकृष्णके पास हैं। एक ही समय उन्हें कभी दिनकी प्रतीति होती है, कभी रातकी। वे न जाने क्या-क्या बोल रही हैं—

'हे पत्ती! तू इस समय इस नीरव निशीथमें क्यों जाग रहा है? इस विलापका क्या अर्थ है? क्या श्रीकृष्णकी मुसकान और चितवनने तुझपर भी जादू डाल दिया है? ऐ चकवी! तू आँखें बंद करके किसको प्रणय-आमन्त्रण दे रही है? क्या तू भी हमारे समान ही श्रीकृष्णके चरणोंपर समर्पित पुष्पोंकी माला पहनना चाहती है? समुद्र! तू क्यों गरज रहा है? तुम्हारी इस दिग्दिगन्तको प्रतिध्वनित कर देनेवाली ध्वनिका क्या तात्पर्य है? क्या श्रीकृष्णने हमारी ही भाँति तुम्हारा भी कुछ छीन लिया है? चन्द्रमा! तेरी क्या दशा हो रही है? आज रजनीको तू अपने करोंसे रंग उँड़ेलकर क्यों नहीं रँग देता? क्या तू भी श्रीकृष्णकी मीठी-मीठी बातोंमें आकर अपना सर्वस्व खो चुका है? हे मलयानिल हमने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया, फिर तुम हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गका स्पर्श करके हृदयको गुदगुदा रहे हो? उसे तो यों ही श्रीकृष्णकी तिरछी चितवनने टूक-टूक कर दिया है। घनश्यामके समान श्यामल मेघ! तू तो उनका सखा है न? उनका ध्यान करते-करते ही तो तू ऐसा हो गया है ये बूँदें नहीं, तेरे प्रेमके आँसू हैं। अब क्यों रोता है? उनसे प्रेम करनेका फल भोग रहा है क्या? पर्वत! तुम्हारे इस गम्भीर मौन और अचञ्चल स्थिरताका यही अर्थ है न कि तुम हमारी ही भाँति अपने शिखरोंपर उनके चरणोंका स्पर्श चाहते हो? नदियो! क्या तुम वियोगिनी हो? अवश्य,

अवश्य। तभी तो तुम हमारी ही भाँति कृश हो रही हो। हंस! आओ, आओ, तुम्हारा स्वागत है। इस आसनपर बैठो, दूध पियो। कहो उनका कुशल-मंगल—अच्छे तो हैं? वे क्या कभी हमारा स्मरण करते हैं? हम वहाँ नहीं जायँगी। क्या वे हमारे पास नहीं आयेंगे?' (भाग० १०। ९०)

देवियो! धन्य है तुम्हारी तन्मयता! तभी तो तुम्हें श्रीकृष्ण-पत्नी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

गोपियोंका हृदय अनिर्वचनीय है। वह प्रेममय है, श्रीकृष्णमय है, अमृतमय है। उनका हृदय, उनका प्रेम, उनके भावका अमृतमय स्रोत कभी-कभी स्वयं वाणीके द्वारा बाहर निकल आता है। वे जब बोलना चाहती हैं तब बोला नहीं जाता, जब मौन रहना चाहती हैं तब बोल जाती हैं। उनके दिव्य भावोंका तनिक दर्शन तो करें—

'हे सखी! जब सायङ्काल होता है, गौएँ व्रजमें आने लगती हैं, उनके पीछे-पीछे ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण और बलराम वृन्दावनमें प्रवेश करते हैं, तब उनकी प्रेमभरी चितवनका रस जो लेता है उसीका जीवन सफल है, उसीकी आँखें धन्य हैं। कितना विचित्र वेष रहता है उनका—आमके बौर, कोमल-कोमल पत्ते, पुष्पोंके गुच्छे और उसपर कमलकी माला! ग्वाल-बालोंके बीचमें गान करते हुए वे श्रेष्ठ नटके समान मालूम पड़ते हैं। गोपियो! जिस वंशीकी ध्वनि सुनकर बावलियोंको रोमाञ्च हो आता है—उनमें कमल खिल जाते हैं, वृक्षोंसे आँसू बहने लगते

हैं—उनसे मदकी धारा बहने लगती है, उस बाँसुरीने कौन-सी तपस्या की है ? उलटे वह तो गोपियोंका हक—श्रीकृष्णके अधरोंकी सुधा पी जाती है; परन्तु हो-न-हो उसका कोई महान् पुण्य अवश्य है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तब उसीके स्वरमें ताल मिलाकर मोर नाचने लगते हैं, जंगली जीव अपना स्वभाव छोड़कर प्रेम-मुग्ध हो जाते हैं, उनके चरण-चिह्नोंसे चर्चित वृन्दावन समस्त पृथ्वीका यशोविस्तार कर रहा है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं तब हरिनियाँ अपने पतियोंके साथ प्रेमभरी चितवनसे उनका विचित्र वेष देखकर सम्मान करती हैं, वे पशु होनेपर भी धन्य हैं। उनका मधुमय सङ्गीत और अनूप रूपराशि देख-सुनकर स्वर्गीय देवियाँ सुध-बुध खो बैठती हैं, मूर्च्छित हो जाती हैं। गौएँ कान खड़े करके उस अमृतका पान करती हैं। बछड़े मुँहमें लिये हुए दूधको न उगल पाते हैं और न निगल ही सकते हैं; उनके हृदयमें होते हैं श्रीकृष्ण और आँखोंमें आँसू। वनके पक्षी लतावेष्टित तरुओंकी रुचिर शाखाओंपर बैठे-बैठे आँखें बंद करके मूक होकर श्रीकृष्णकी बाँसुरी सुना करते हैं, नदियाँ कमलोंके उपहारके साथ उनके चरणोंका स्पर्श करती हैं, मेघ विन्दुओंसे पुष्प-वर्षा करता हुआ उनका छत्र बन जाता है, गोवर्द्धन आनन्दोद्रेकसे फूलकर उनकी सेवा करता है, चर अचर हो जाते हैं और अचर चर हो जाते हैं। धन्य है श्रीकृष्णकी लीला! चलो हम भी देखें' (भाग० १० । २१)।

'नन्दनन्दन! तुम्हारे जन्मसे व्रजकी बड़ी उन्नति हुई। लक्ष्मी इसकी सेवा करती है; परन्तु हम—जिनका जीवन, प्राण, सब कुछ तुम्हारे लिये है, तुम्हें इधर-उधर ढूँढ़ती हुई भटक रही हैं।

प्रियतम ! तनिक देखो तो सही, तुम्हारी प्रेमभरी चितवनने हमें बिना दामकी दासी बना लिया। अब उसीके कारण हम दुःखी हो रही हैं, क्या यह अपराध नहीं है ? तुमने तो बार-बार हमारी रक्षा की है। जगत्की रक्षा करनेके लिये ही तुमने अवतार भी लिया है। अपने प्रेमियोंको अभय देनेवाले प्रभो ! अपने कर-कमलोंको एक बार, केवल एक बार हमारे सिरपर रख दो। तुम्हारी मधुर मुसकानसे ही प्रेमियोंका मान-मर्दन हो जाता है, हम तो तुम्हारी सेविका हैं। आओ, हमारे पास आओ; एक बार अपना सुन्दर मुखड़ा दिखा दो। हमारा हृदय तुम्हारी प्राप्तिकी अभिलाषासे विकल हो रहा है, उसपर अपने चरण-कमल रखकर शान्त कर दो। तुम्हारी मीठी-मीठी बातें सुनकर हम मोहित हो गयी हैं, अपने अधरामृतसे हमें सराबोर कर दो। अबतक तुम्हारी चर्चाके बलपर ही हमने जीवन धारण किया है, परन्तु अब रहा नहीं जाता। तुम्हारी मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन और विचित्र विहार बार-बार मनमें आते हैं। वे एकान्तकी हृदयस्पर्शी बातें बार-बार मनको क्षुब्ध कर रही हैं। तुम्हारी एक-एक चेष्टाने हमारे मनको विवश कर दिया है। अब हमारे वक्षःस्थलपर अपने चरण रक्खो, अपने अधरामृतका दान करो। दिनमें तुम्हें एक पलक भी न देख सकनेपर अनेकों युगका समय जान पड़ता है, देखते समय पलकका गिरना भी अखरता है। हम तुम्हारे सङ्गीतसे मोहित होकर जङ्गलमें आयीं और अब हमें छोड़कर चले गये। यह कहाँका न्याय है ? हमारा मन मोहित है और तुम्हारा अवतार संसारके कल्याणके लिये हुआ है। क्या हमारी व्यथा मिटानेके लिये तुम थोड़ा-सा त्याग भी

न करोगे ? हमारा चित्त घूम रहा है। हम तो अपने कठोर वक्षःस्थलपर तुम्हारे चरणोंको रखते हुए भी डरती हैं, और तुम रातके समय जङ्गलमें घूम रहे हो; कहीं कंकड़-पत्थर गड़ जाय तो ? सखे ! तुम नेक सोचते भी नहीं कि हमारा जीवन तुम्हारे हाथमें है !' (भाग० १०।३१)

गोपियोंके गीतमें जो रस है, वह अनुवादमें कभी आ नहीं सकता और जब संकोचसे अनुवाद किया जाय, तबका तो कहना ही क्या है। इसलिये उनके गीतोंका आनन्द, उनके प्रेमकी अनुभूति मूलमें ही प्राप्त करने योग्य है। यहाँ तो केवल नाममात्रका उद्धरण दे दिया गया है।

श्रीमद्भागवत घटना, उपदेश, स्तुति और गीत—चारों ही रूपोंमें चारों वेदोंके समान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वेद-शास्त्रोंका साररूप है और रसमय फल है, इसका आस्वादन ही इसकी महिमाको यत्किंचित् व्यक्त कर सकता है। वास्तवमें इसकी महिमा अनिर्वचनीय है।
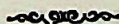
डाकू भक्त हो गया

पुराने ज़मानेकी बात है। एक धनी गृहस्थके घर भगवत्कथाका बड़ा सुन्दर आयोजन हो रहा था। वैशाखका महीना, शुक्लपक्षकी रात्रिका समय। अतिथि अभ्यागतोंकी सुख-सुविधाके लिये सब प्रकारका प्रबन्ध किया गया था। जूही, बेला, मौलसिरी आदि सुगन्धित पुष्पोंके सौरभसे दिशाएँ सुवासित हो रही थीं। भगवान्के नैवेद्यके लिये आम, अंगूर, अनार, सेव आदि फल तराशे जा रहे थे। सारी सामग्री तैयार हो जानेपर विधिपूर्वक भगवान्की पूजा सम्पन्न हुई। भगवान्की मनोहर मूर्तिके दर्शन, भगवत्कथाके श्रवण सुगन्धित पुष्पोंके आघ्राण और शान्तिमय वातावरणके प्रभावसे सभी उपस्थित सज्जन लोकोत्तर आनन्दका आस्वादन करने लगे। सब लोग इस पवित्र उत्सव-कार्यमें इतने संलग्न और तन्मय हो गये कि उन्हें समयका कुछ ध्यान ही न रहा।

कथावाचक पण्डितजी विद्वान् तो थे ही, अच्छे गायक भी थे। बीच-बीचमें भगवत्सम्बन्धी भावपूर्ण पदोंका मधुर कण्ठसे गान भी करते। पहले उन्होंने श्रीमद्भागवतके आधारपर संक्षेपमें भगवान्के जन्मकी कथा सुनायी, फिर नन्दोत्सवका वर्णन करते-करते विलावल रागमें एक मधुर पद गाया—

आँनद आज नंदके द्वार।
दास अनन्य भजन रस कारण प्रगटे लाल मनोहर ग्वार॥

चंदन सकल धेनु तन मंडित कुसुम दाम सोभित आगार।
पूरन कुंभ बने तोरन पर बीज रुचिर पीपरकी डार॥
जुवति जूथ मिलि गोप विराजत बाजत प्रनव मृदंग सितार।
(जयश्री) हित हरिवंश अजिर बर बीथिन
दधि मधु दुग्ध हरदके खार॥

कथाका प्रसङ्ग आगे चला। श्रोतागण व्यवहारकी चिन्ता और शरीरकी सुधि भूलकर भगवदानन्दमें मस्त हो गये। बहुतोंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। कितनोंकी आँखोंमें आँसू छलक आये। सभी तन्मय हो रहे थे।

उसी समय सुयोग देखकर एक डाकू उस धनी गृहस्थके घरमें घुस आया और चुपचाप धन-रत्न ढूँढ़ने लगा; परन्तु भगवान्की ऐसी लीला कि बहुत प्रयास करनेपर भी उसके हाथ कुछ नहीं लगा; वह जिस समय कुछ-न-कुछ हाथ लगनेके लिये इधर--उधर ढूँढ़ रहा था, उसी समय उसका ध्यान यकायक कथाकी ओर चला गया। कथावाचक पण्डितजी महाराज ऊँचे स्वरसे कह रहे थे—'प्रातःकाल हुआ। पूर्व दिशा उषाकी मनोरम ज्योति अरुणकी लालिमासे रंग गयी। उस समय व्रजकी झाँकी अलौकिक हो रही थी। वहाँका पत्ता--पत्ता चमक रहा था। पक्षिगण मानो इसलिये और भी जोर-जोरसे चहक रहे थे कि श्रीकृष्ण शीघ्र-से-शीघ्र आकर उनके नेत्रोंकी प्यास बुझायें। गौएँ और बछड़े सिर उठा-उठाकर नन्द बाबाके महलकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे देख रहे थे कि अब हमारे प्यारे श्रीकृष्ण हमें आनन्दित करनेके लिये आ ही रहे होंगे। उसी समय भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा आदि ग्वालबालोंने

आकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको बड़े प्रेमसे पुकारा—'हमारे प्यारे कन्हैया, आओ न ; अबतक तुम सो ही रहे हो? देखो, गौएँ तुम्हें देखे बिना रँभा रही हैं। हम कभीसे खड़े हैं। चलो, वनमें गौएँ चरानेके लिये चलें। दाऊ दादा, तुम इतनी देर क्यों कर रहे हो?' इस प्रकार ग्वालबालोंकी पुकार और जल्दी देखकर नन्दरानी अपने प्यारे पुत्रोंको बड़े ही मधुर स्वरसे जगाने लगीं—

तुम जागौ मेरे लाड़िले गोकुल सुखदाई।
कहति जननि आनंद सौं उठौ कुँअर कन्हाई॥
तुमकों माखन–दूध दधि मिश्री हौं ल्याई।
उठि कै भोजन कीजियै पकवान मिठाई॥
सखा द्वार परभात सौं सब टेर लगाई।
बनकों चलिए साँवरे दयो तरनि दिखाई॥

फिर मैयाने स्नेहसे उन्हें माखन-मिश्रीका तथा भाँति-भाँतिके पकवानोंका कलेऊ करवाकर बड़े चावसे खूब सजाया। लाख-करोड़ रुपयोंके गहने, हीरे-जवाहर और मोतियोंसे जड़े स्वर्णालङ्कार अपने बच्चोंको पहनाये। मुकुटमें, बाजूबन्दमें, हारमें जो मणियाँ जगमगा रही थीं, उनके प्रकाशके सामने प्रातःकालका उजाला फीका पड़ गया। इस प्रकार भलीभाँति सजाकर नन्दरानीने अपने लाड़ले पुत्रोंके सिर सूँघे और फिर बड़े प्रेमसे गौ चरानेके लिये उन्हें विदा किया।'

इतनी बातें डाकूने भी सुनीं। और तो कुछ उसने सुना था नहीं। अब वह सोचने लगा कि 'अरे, यह तो बड़ा सुन्दर सुयोग है, मैं छोटी-मोटी चीजोंके लिये इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहता

हूँ। यह तो अपार सम्पत्ति हाथ लगनेका अवसर है। केवल दो बालक ही तो हैं। उनके दोनों गालोंपर दो-दो चपत जड़े नहीं कि वे स्वयं अपने गहने निकालकर मुझे सौंप देंगे।' यह सोचकर वह डाकू धनी गृहस्थके घरसे बाहर निकल आया और कथाके समाप्त होनेकी बाट देखने लगा।

डाकूके आनन्दकी सीमा नहीं थी। कथावाचक पण्डितजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सुन्दर शरीरोंपर सजे हुए गहनोंकी जो बात कही थी, उसे याद कर-करके वह खिल उठता था—'अहा, वे गहने कितने चमकदार होंगे! उनके छीनकर लाते ही मैं बहुत बड़ा धनी हो जाऊँगा। फिर तो मेरे सुखका क्या पूछना!' उन गहनोंके चिन्तनसे ही उसके हृदयमें प्रकाशकी रेखा खिंच गयी। गहनोंके साथ ही भगवान्के दिव्य स्वरूपका भी चिन्तन होता ही था। वह अपने दुःख-दारिद्र्यको भूलकर सुखके समुद्रमें डूबने-उतराने लगा। बहुत रात बीतने पर कथा समाप्त हुई। भगवान्के नाम और जयकारके नारोंसे आकाश गूँज उठा। भक्त गृहस्थ बड़ी नम्रतासे ठाकुरजीका प्रसाद ग्रहण करनेके लिये सब श्रोताओंसे अनुरोध करने लगे। प्रसाद बँटने लगा। आनन्दकी धारा बह चली। जहाँ देखो, लोग भगवान्का प्रसाद पा-पाकर मस्त हो रहे हैं। उधर यह सब हो रहा था, परन्तु डाकूके मनमें इन बातोंका कोई ध्यान नहीं था। वह तो रह-रहकर कथावाचककी ओर देख रहा था। उसकी आँखें कथावाचकजीकी गतिविधिपर जमी हुई थीं। कुछ समयके बाद प्रसाद पाकर कथावाचकजी डेरेकी ओर चले। डाकू भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

जब पण्डितजी खुले मैदानमें पहुँचे तब डाकूने पीछेसे कुछ कड़े स्वरमें पुकारकर कहा--'ओ पण्डितजी ! खड़े रहो !' पण्डितजीके पास दक्षिणाके रुपये पैसे भी थे, वे डरकर और तेज़ चालसे चलने लगे। डाकूने दौड़ते हुए कहा—'पण्डितजी, खड़े हो जाओ ! यों भागनेसे नहीं बच सकोगे।' पण्डितजीने देखा कि अब छुटकारा नहीं है, वे लाचार होकर ठमक गये। डाकूने उनके पास पहुँचकर कहा—'देखिये पण्डितजी, आप जिन कृष्ण और बलरामकी बात कह रहे थे, उनके लाखों-करोड़ों रुपयोंके गहनोंका वर्णन कर रहे थे, उनका घर कहाँ है ? वे दोनों गौएँ चरानेके लिये कहाँ जाते हैं ? आप सारी बातें ठीक-ठीक बता दीजिये; यदि ज़रा भी टालमटोलकी तो बस, देखिये मेरे हाथमें कितना भारी डंडा है, यह तुरन्त आपके सिरके टुकड़े-टुकड़े कर देगा।' पण्डितजीने देखा, उसका लंबा-चौड़ा दैत्य-सा शरीर बड़ा ही बलिष्ठ है। मज़बूत हाथोंमें मोटी लाठी है, आँखोंसे क्रूरता टपक रही है। उन्होंने सोचा, हो-न-हो यह कोई डाकू है। फिर साहस बटोरकर कहा—'तुम्हारा उनसे क्या काम है ?' डाकूने तनिक ज़ोर देकर कहा--'ज़रूरत है।' पण्डितजी बोले—'ज़रूरत बतानेमें कुछ अड़चन है क्या ?' डाकूने कहा—'पण्डितजी, मैं डाकू हूँ। मैं उनके गहने लूटना चाहता हूँ। गहने मेरे हाथ लग गये तो आपको भी अवश्य ही कुछ दूँगा। देखिये, टालमटोल मत कीजिये। ठीक-ठीक बताइये।' पण्डितजीने समझ लिया कि यह वज्र मूर्ख है। अब उन्होंने कुछ हिम्मत करके कहा--'तब इसमें डर किस बातका है ? मैं तुम्हें सब कुछ बतला दूँगा। लेकिन यहाँ रास्तेमें तो मेरे पास पुस्तक नहीं है। मेरे डेरेपर चलो। मैं पुस्तक

देखकर सब ठीक-ठीक बतला दूँगा । डाकू उनके साथ-साथ चलने लगा ।

डेरेपर पहुँचकर पण्डितजीने किसीसे कुछ कहा नहीं । पुस्तक बाहर निकाली और वे डाकूको भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी रूप-माधुरी सुनाने लगे । उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही चरणकमलोंमें सोनेके सुन्दर नूपुर हैं, जो अपनी रुनझुन ध्वनिसे सबके मन मोह लेते हैं । श्याम वर्णके श्रीकृष्ण पीत वर्णका और गौर वर्णके बलराम नील वर्णका वस्त्र धारण कर रहे हैं । दोनोंकी कमरमें बहुमूल्य मोतियोंसे जड़ी सोनेकी करधनी शोभायमान है । गलेमें हीरे–जवाहरातके स्वर्णहार हैं । हृदयपर कौस्तुभ मणि झलमला रही है । ऐसी मणि जगत्में और कोई है ही नहीं । कलाईमें रत्नजटित सोनेके कंगन, कानोंमें मणिकुण्डल, सिरपर मनोहर मोहन चूड़ा । घुँघराले काले-काले बाल, ललाटपर कस्तूरीका तिलक, होठोंमें मन्द-मन्द मुसकराहट, आँखोंसे मानो आनन्द और प्रेमकी वर्षा हो रही है । श्रीकृष्ण अपने कर-कमलोंमें सोनेकी वंशी लिये उसे अधरोंसे लगाये रहते हैं । उनकी अङ्गकान्तिके सामने करोड़ों सूर्योंकी कोई गिनती नहीं । रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पोंकी माला, तोतेकी-सी नुकीली नासिका, कुन्द-बीजके समान धौले दाँतोंकी पाँत, बड़ा लुभावना रूप है । अजी, जब वे त्रिभङ्गललित भावसे खड़े होते हैं, देखते-देखते नेत्र तृप्त ही नहीं होते । बाँकेविहारी श्रीकृष्ण जब अपनी बाँसुरीमें 'राधे-राधे-राधे' की मधुर तान छेड़ते हैं तब बड़े-बड़े ज्ञानी भी अपनी समाधिसे पिण्ड छुड़ाकर उसे सुननेके लिये दौड़ आते हैं । यमुनाके

तटपर वृन्दावनमें कदम्ब वृक्षके नीचे प्रायः उनके दर्शन मिलते हैं। वनमाली श्रीकृष्ण और हलधारी बलराम।'

डाकूने पूछा—'अच्छा पण्डितजी, सब गहने मिलाकर कितने रुपयोंके होंगे?' पण्डितजीने कहा—'ओह, इसकी कोई गिनती नहीं है, करोड़ों-अरबोंसे भी ज्यादा!' डाकू—'तब क्या जितने गहनोंके आपने नाम लिये, उनसे भी अधिक हैं?' पण्डितजी—'तो क्या? संसारकी समस्त सम्पत्ति एक ओर और कौस्तुभमणि एक ओर। फिर भी कोई तुलना नहीं।' डाकूने आनन्दसे गद्‌गद होकर कहा—'ठीक है, ठीक है! और कहिये, वह कैसी है?' पण्डितजी—'वह मणि जिस स्थानपर रहती है, सूर्यके समान प्रकाश हो जाता है। वहाँ अँधेरा रह नहीं सकता। वैसा रत्न पृथ्वीमें और कोई है ही नहीं!' डाकू—'तब तो उसके दाम बहुत ज्यादा होंगे। क्या बोले? एक बार भली भाँति समझा तो दीजिये। हाँ, एक बात तो भूल ही गया। मुझे किस ओर जाना चाहिये?' पण्डितजीने सारी बातें दुबारा समझा दीं। डाकूने कहा—'देखिये पण्डितजी, मैं शीघ्र ही आकर आपको कुछ दूँगा। यहाँसे ज्यादा दूर तो नहीं है न? मैं एक ही रातमें पहुँच जाऊँगा, क्यों? अच्छा; हां-हां, एक बार और बताइये। क्या वे प्रतिदिन गाँएँ चराने जाते हैं?' पण्डितजी—'हां, और तो क्या?' डाकू—'कब आते हैं?' पण्डितजी—'ठीक प्रातःकाल। उस समय थोड़ा-थोड़ा अँधेरा भी रहता है।' डाकू—'ठीक है। मैंने सब समझ लिया। हाँ 'तो अब मुझे किधर जाना चाहिये?' पण्डितजी—'बराबर उत्तरकी ओर चले जाओ।' डाकू प्रणाम करके चल पड़ा।

पण्डितजी मन-ही-मन हँसने लगे 'देखो, यह कैसा पागल है! थोड़ी देर बाद उन्हें चिन्ता हो आयी, यह मूर्ख दो-चार दिन तो ढूँढ़नेका प्रयत्न करेगा। फिर लौटकर कहीं यह मुझपर अत्याचार करने लगा तो? किन्तु नहीं, यह बड़ा विश्वासी है। लौटकर आयेगा तो एक रास्ता और बतला दूँगा। यह दो-चार दिन भटकेगा तबतक मैं कथा समाप्त करके यहाँसे चलता बनूँगा। इससे पिण्ड छुड़ानेका और उपाय ही क्या है?' पण्डितजी कुछ-कुछ निश्चिन्त हुए।

डाकू अपने घर गया। उसकी भूख, प्यास, नींद सब उड़ गयी। वह दिन-रात गहनोंकी बात सोचा करता, चमकीले गहनोंसे लदे दोनों नयन-मन-हरण बालक उसकी आँखोंके सामने नाचते रहते। क्षणभरके लिये भी तो उसका मन इधर-उधर नहीं जाता। कहीं भूल जाय तो हाथ लगी सम्पत्ति खो जायगी। भगवान्के दिव्य अङ्ग और उसपर सजे गहनोंकी चमक-दमक उसकी आँखोंके सामने सदा झिलमिलाती रहती। इसी ध्यानमें रात बीत गयी। उसे पता तक न चला। सूर्योदय हुआ। फिर भी उसे एक ही चिन्ता, एक ही ध्यान। दुनियाके लोग अपने-अपने कामोंमें लगे थे। कोई मनोरञ्जन कर रहा था, कोई आलस्यसे दिन काट रहा था। हवा चल रही थी, नदी बह रही थी, पक्षी चहक रहे थे और डाकू मन-ही-मन श्याम-गौर किशोरोंके देदीप्यमान शरीरोंसे गहने उतारनेमें व्यस्त था। एक क्षणकी तरह पलक मारते-मारते सारा दिन बीत गया; परन्तु डाकूके मनमें एक ही धुन। लगन हो तो ऐसी! मस्ती हो तो ऐसी!! अँधेरा हुआ, डाकूने लाठी उठाकर कंधेपर रक्खी। वह उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा। यह उत्तर भी उसकी अपनी धुनका ही था, दूसरोंके

देखनेमें शायद वह दक्खिन ही जा रहा हो! उसे इस बातका भी पता नहीं था कि उसके पैर धरतीपर पड़ रहे हैं या काँटोंपर। ठीक ही तो है—

जाहि लगन लगी घनस्यामकी।
धरत कहूँ पग परत कितैहूँ भूल जाय सुधि धामकी॥
छवि निहार नहिं रहत सार कछु घरी पल निसि दिन जामकी।
जित मुँह उठै तितै ही धावै सुरति न छाया घामकी॥
अस्तुति निंदा करौ भले ही मेंड़ तजी कुल-गामकी।
नारायण बौरी भइ डोलै रही न काहू कामकी॥

चलते-चलते एक स्थानपर डाकूकी आँख खुली। उसने देखा बड़ा सुन्दर हरा-भरा वन है। एक नदी भी कल-कल करती वह रही है। उसने सोचा, निश्चय किया—'यही है, यही है! परन्तु वह कदम्बका पेड़ कहाँ है?' डाकू बड़ी सावधानीके साथ एक-एक वृक्षके पास जाकर कदम्बको पहचाननेकी चेष्टा करने लगा। उसने न जाने कितने वृक्षोंका स्पर्श किया, कितनोंके पत्ते देखे। अन्तमें वहाँ उसे एक कदम्ब मिल ही गया। अब उसके आनन्दकी सीमा न रही। उसने सन्तोषकी साँस ली और आस-पास आँखें दौड़ायीं। एक छोटा-सा पर्वत, घना जंगल और गौओंके चरनेका मैदान भी दीख गया। हरी-हरी दूब रातके स्वाभाविक अँधेरेमें घुल-मिल गयी थी। फिर भी उसके मनके सामने गौओंके चरने और चरानेवालोंकी एक छटा छिटक ही गयी। अब डाकूके मनमें एक ही विचार था—कब सवेरा हो, कब अपना काम बने। वह एक-एक क्षण सावधानीसे देखता और सोचता कि आज सवेरा होनेमें कितनी देर हो रही है!

पल-पल उसके उत्साहमें वृद्धि होती। वह देखता कि मेरा मनोरथ पूरा होनेका समय निकट आ रहा है। वह कदम्ब वृक्षकी एक-एक डालपर पैनी दृष्टि डालकर और चढ़कर इस बातकी परीक्षा करता कि कहाँ बैठनेसे मैं उन दोनोंके आते ही झटपट कूद पड़ूँगा और गहने छीन लेनेमें सुविधा होगी। मैं किस तरह उन्हें पकड़ूँगा, किस तरह गहने छीनूँगा, इस बातको वह बार-बार पक्की करने लगा। ज्यों-ज्यों रात बीतती, त्यों-त्यों उसकी चिन्ता, उद्वेग, उत्तेजना, आग्रह और आकुलता बढ़ती जाती।

कभी-कभी उसे ऐसा मालूम होता, मानो कौस्तुभ मणि उसकी आँखोंके सामने चमक गयी हो। उसने सोचा, 'कौस्तुभ मणिसे तो अँधेरा दूर हो जाता है। यदि उन बालकोंने मणिके प्रकाशमें मुझे देख लिया तो सारा किया-कराया चौपट हो जायगा। वे मुझे देखकर भागनेकी चेष्टा करेंगे। हाँ, तो मैं अभी कदम्बकी सबसे ऊँची डालपर चढ़ जाऊँ और पत्तोंमें छिपकर उनकी बाट देखूँ।' वह पेड़पर चढ़ गया। अभी थोड़ी ही देर हुई कि उसके मनमें आया— 'नहीं, नहीं; यहाँसे जितनी देरमें मैं उतर पाऊँगा, उतनी देरमें तो वे भाग जायँगे। यहाँ ठहरना ठीक नहीं। वह नीचे उतर आया। सोचने लगा—'कुछ वृक्षोंके झुरमुटमें चुपचाप खड़ा हो जाऊँ और आते ही झपटकर उन्हें पकड़ लूँ।' वह जाकर वृक्षोंकी आड़में खड़ा हो गया। खड़े होते ही उसके मनमें विचारोंका तूफान उठने लगा—'ना-ना, शायद वे दोनों मुझे यहाँ देख लें। तब तो सारा बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। अच्छा, सामनेवाले गढ़ेमें छिप जाऊँ। ठीक तो है, वह आते ही बाँसुरी बजायेगा। वंशीकी धुन

सुनते ही मैं दौड़कर उसे पकड़ लूँगा।' यह विचारकर डाकू गढ़ेमें जाकर छिप रहा। क्षणभर बाद ही उसके मनमें आया कि 'कहीं वंशीकी धुन मेरे कानोंमें न पड़ी तो? बाहर रहना ही ठीक है। अब वह बाहर आकर बार-बार कान दे-देकर वंशीकी धुन अकलनेमें लगा। जब उसे किसी शब्दकी आहट न मिली तब वह फिर कदम्बपर चढ़ गया और देखने लगा कि किसी ओर उजाला तो नहीं है? कहींसे वंशीकी आवाज़ तो नहीं आ रही है? उसने अपने मनको समझाया—'अभी सवेरा होनेमें देर है। मैं ज्यों ही वंशीकी धुन सुनूँगा, त्यों ही टूट पड़ूँगा। इस प्रकार सोचता हुआ बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ वह डाकू सवेरा होनेकी बाट जोहने लगा।

देखते-ही-देखते मानो किसीने प्राची दिशाका मुख रोलीके रंगसे रँग दिया। डाकूके हृदयमें आकुलता और भी बढ़ गयी। वह पेड़से कूदकर ज़मीनपर आया, परन्तु वंशीकी आवाज़ सुनायी न पड़नेके कारण फिर उछलकर कदम्बपर चढ़ गया। वहाँ भी किसी प्रकारकी आवाज़ सुनायी नहीं पड़ी। उसका हृदय मानो क्षण-क्षणपर फटता जा रहा था। अभी-अभी उसका हृदय विहर उठता, परन्तु यह क्या, उसकी आशा पूर्ण हो गयी! दूर, बहुत दूर वंशीकी सुरीली स्वर-लहरी लहरा रही है। वह वृक्षसे कूद पड़ा। हाँ, परन्तु हृदयपर फिर अविश्वासकी रेखा खिंच गयी—'कहीं मेरा भ्रम तो नहीं था!' वह तुरंत वृक्षकी सबसे ऊँची डालपर चढ़ गया। 'हाँ, ठीक है, ठीक है; बाँसुरी ही तो है! अच्छा, यह स्वर तो और समीप होता जा रहा है! डाकू आनन्दके आवेशमें अपनी सुध-बुध खो बैठा और मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़ा। कुछ ही क्षणोंमें

उसकी वेहोशी दूर हुई, आँखें खुलीं; वह उठकर खड़ा हो गया। देखा तो पास ही जंगलमें एक दिव्य शीतल प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। उस मनोहर प्रकाशमें दो भुवन-मोहन बालक अपने अङ्गकी अलौकिक छटा विखेर रहे हैं। गौएँ और ग्वाल-बाल उनके आगे-आगे कुछ दूर निकल गये हैं।

डाकूने उन्हें देखा, अभी पुकार भी नहीं पाया था कि मन मुग्ध हो गया—'अहाहा! कैसे सुन्दर चेहरे हैं इनके! आँखोंसे तो अमृत ही बरस रहा है। और इनके तो अङ्ग-अङ्ग बहुमूल्य आभूषणोंसे भरे हैं। हाय-हाय! इतने नन्हे-नन्हे सुकुमार शिशुओंको माँ-बापने गौएँ चरानेके लिये कैसे भेजा? ओह! मेरा तो जी भरा आता है—मन चाहता है, इन्हें देखता ही रहूँ! इनके गहने उतारनेकी बात कैसी, इन्हें तो और भी सजाना चाहिये। नहीं, मैं इनके गहने नहीं छीनूँगा। ना, ना, गहने नहीं छीनूँगा। तो फिर आया ही क्यों? ठीक है। मैं गहने छीन लूँगा। परन्तु इन्हें मारूँगा नहीं। बाबा रे बाबा, मुझसे यह काम न होगा! दुत् तेरेकी! यह मोह-छोह कैसा? मैं डाकू हूँ, डाकू। मैं और दया! बस, बस, मैं अभी गहने छीने लेता हूँ।' यह कहते-कहते वह श्रीकृष्ण और बलरामकी ओर दौड़ा। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके पास पहुँचकर उनका स्वरूप देखते ही उसकी चेतना एक बार फिर लुप्त हो गयी। पैर लड़खड़ाये और वह गिर पड़ा। फिर उठा। कुछ देर टकटकी लगाये देखता रहा, आँखें आसुओंसे भर आयीं। फिर न मालूम क्या सोचा, हाथमें लाठी लेकर उनके सामने गया और बोला—'खड़े हो जाओ। सारे गहने निकालकर मुझे दे दो।'

श्रीकृष्ण—'हम अपने गहने तुम्हें क्यों दें ?'

डाकू—'दोगे नहीं ? मेरी लाठीकी ओर देखो।'

श्रीकृष्ण—'लाठीसे क्या होगा ?'

डाकू—'अच्छा, क्या होगा ? गहना न देनेपर तुम्हारे सिर तोड़ डालूँगा, और क्या होगा ?'

श्रीकृष्ण—'नहीं, हम लोग गहने नहीं देंगे।'

डाकू—'अभी-अभी मैं कान पकड़के ऐंठूँगा और सारे गहने छीन-छानकर तुम्हें नदीमें फेंक दूँगा।'

श्रीकृष्ण—(जोरसे) 'बाप-रे-बाप ! ओ बाबा !! ओ बाबा !!!'

डाकूने झपटकर अपने हाथसे श्रीकृष्णका मुँह दबाना चाहा, परन्तु स्पर्श करते ही उसके सारे शरीरमें बिजली दौड़ गयी। वह बेहोश होकर धड़ामसे धरतीपर गिर पड़ा। कुछ क्षणोंके बाद जब होश हुआ तब वह श्रीकृष्णसे बोला—'अरे, तुम दोनों कौन हो ? मैं ज्यों-ज्यों तुम दोनोंको देखता हूँ त्यों-ही-त्यों तुम मुझे और सुन्दर, और मधुर, और मनोहर क्यों दीख रहे हो ? मेरी आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयीं। हाय ! हाय ! मुझे रोना क्यों आ रहा है ? मेरे शरीरके सब रोएँ क्यों खड़े हो गये हैं ? जान गया, जान गया तुम दोनों देवता हो, मनुष्य नहीं हो।'

श्रीकृष्ण—[मुसकराकर] 'नहीं, हम मनुष्य हैं। हम ग्वालबाल हैं। हम व्रजके राजा नन्दबाबाके लड़के हैं।'

डाकू—अहा! कैसी मुसकान है! 'जाओ जाओ; तुम लोग गौएँ चराओ। मैं अब गहने नहीं चाहता। मेरी आशा-दुराशा, मेरी चाह-आह सब मिट गयीं। हाँ, मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंके सुरंग अङ्गोंमें अपने हाथोंसे और भी गहने पहनाऊँ। जाओ, जाओ। हाँ, एक बार अपने दोनों लाल-लाल चरणकमल तो मेरे सिरपर रख दो। हाँ, हाँ; ज़रा हाथ तो इधर करो! मैं एक बार तुम्हारी स्निग्ध हथेलियोंका चुम्बन करके अपने प्राणोंको तृप्त कर लूँ। ओह, तुम्हारा स्पर्श कितना शीतल, कितना मधुर! धन्य! धन्य!! तुम्हारे मधुर स्पर्शसे हृदयकी ज्वाला शान्त हो रही है। आशा-अभिलाषा मिट गयी। जाओ, हाँ-हाँ, अब तुम जाओ। मेरी भूख-प्यास मिट गयी। अब कहीं जानेकी इच्छा नहीं होती। मैं यहीं रहूँगा। तुम दोनों रोज़ इसी रास्तेसे जाओगे न? एक बार केवल एक क्षणके लिये प्रतिदिन, हाँ, प्रतिदिन मुझे दर्शन देते जाना। देखो, भूलना नहीं। किसी दिन नहीं आओगे—दर्शन नहीं दोगे तो याद रखो, मेरे प्राण छटपटा कर छूट ही जायँगे।'

श्रीकृष्ण—'अब तुम हमलोगोंको मारोगे तो नहीं? गहने तो नहीं छीन लोगे? हाँ, ऐसी प्रतिज्ञा करो तो हमलोग रोज़, प्रतिदिन आ सकते हैं।'

डाकू—'प्रतिज्ञा, सौ बार प्रतिज्ञा! अरे भगवान्‌की शपथ! तुमलोगोंको मैं कभी नहीं मारूँगा, तुम्हें मार सकता हो, ऐसा कौन है जगत्‌में? तुम्हें तो देखते ही सारी शक्ति गायब हो जाती है, मन

ही हाथसे निकल जाता है। फिर कौन मारे और कैसे मारे ? अच्छा, तुमलोग जाओ !'

श्रीकृष्ण 'यदि तुम्हें हमलोग गहना दें तो लोगे ?'

डाकू—'गहना, गहना; अब गहने क्या होंगे ? अब तो कुछ भी लेनेकी इच्छा नहीं है।'

श्रीकृष्ण—'क्यों नहीं, ले लो। हम तुम्हे दे रहे हैं न ?'

डाकू—'तुम दे रहे हो ? तुम मुझे दे रहे हो ? तब तो लेना ही पड़ेगा, परन्तु तुम्हारे मां-बाप तुमपर नाराज़ होंगे, तुम्हें मारेंगे तो ?'

श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, हम राजकुमार हैं। हमारे पास ऐसे-ऐसे न जाने कितने गहने हैं। तुम चाहो तो तुम्हें और भी बहुत-से गहने दे सकते हैं।

डाकू—ऊँहूँ, मैं क्या करूँगा। हाँ, हाँ; परन्तु तुम्हारी बात टाली भी तो नहीं जाती। क्या तुम्हारे पास और गहने हैं। सच बोलो।'

श्रीकृष्ण—'हैं नहीं, तो क्या हम बिना हुए ही दे रहे हैं। लो, तुम इन्हें ले जाओ।'

भगवान् श्रीकृष्ण अपने शरीरपरसे गहने उतारकर देने लगे। डाकूने कहा—'देखो भाई, यदि तुम देना ही चाहते हो, तो मेरा यह दुपट्टा ले लो और इसमें अपने हाथोंसे बाँध दो। किन्तु देखो लाला,

यदि तुम मेरी इच्छा जानकर विना मनके दे रहे हो तो मुझे गहने नहीं चाहिये। मेरी इच्छा तो अब बस, एक यही है कि रोज़ एक बार तुम्हारे मनोहर मुखड़ेको देख लूँ और एक बार तुम्हारे चरणतलसे अपने सिरका स्पर्श कर लूँ।' श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, बेमनकी बात कैसी? तुम फिर आना, तुम्हें इस बार और गहने देंगे।' श्रीकृष्णने उसके दुपट्टेमें सब गहने बाँध दिये। डाकूने गहनेकी पोटली हाथमें लेकर कहा—'क्यों भाई, मैं फिर आऊँगा तो तुम मुझे और गहने दोगे? गहने चाहे न देना परन्तु दर्शन ज़रूर देना।' श्रीकृष्णने कहा—'अवश्य! गहने भी और दर्शन भी, दोनों।' डाकू गहने लेकर अपने घरके लिये रवाना हुआ।

डाकू आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता घर लौटा। दूसरे दिन रातके समय कथावाचक पण्डितजीके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा और गहनोंकी पोटली उनके सामने रख दी। बोला—'देखिये, देखिये, पण्डितजी! कितने गहने लाया हूँ! आपकी जितनी इच्छा हो, ले लीजिये। पण्डितजी, उसने और गहने देना स्वीकार किया है।' पण्डितजी तो यह सब देख-सुनकर चकित रह गये। उन्होंने बड़े विस्मयके साथ कहा—'मैंने जिनकी कथा कही थी उनके गहने ले आया।' डाकू बोला—'और तो क्या, देखिये न; यह सोनेकी वंशी! यह सिरका मोहन चूडामणि!' पण्डितजी हक्के-बक्के रह गये। बहुत सोचा, बहुत विचारा, परन्तु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके। जो अनादि अनन्त पुरुषोत्तम हैं। बड़े-बड़े योगी सारे जगत्को तिनकेके समान त्यागकर, भूख-प्यास-नींदकी उपेक्षा कर सहस्र-सहस्र वर्षपर्यन्त जिनके ध्यानकी चेष्टा करते हैं, परन्तु दर्शनसे

वञ्चित ही रह जाते हैं; उन्हें यह डाकू देख आये! उनके गहने ले आये! अजी, कहाँ की बात है। असम्भव! हो नहीं सकता। परन्तु यह क्या! यह चूडामणि, यह बाँसुरी, ये गहने—सभी तो अलौकिक हैं। इसे ये सब कहाँ, किस तरह मिले। कुछ समझमें नहीं आता। क्षणभर ठहरकर पण्डितजीने कहा—'क्यों भाई, तुम मुझे उसके दर्शन करा सकते हो।' डाकू-'क्यों नहीं, कल ही चलिये न।' पण्डितजी पूरे अविश्वासके साथ केवल उस घटनाका पता लगानेके लिये डाकूके साथ चल पड़े और दूसरे दिन नियत स्थानपर पहुँच गये। पण्डितजीने देखा—एक सुन्दर-सा वन है। छोटी-सी नदी वह रही है, बड़ा-सा मैदान और कदम्बका वृक्ष भी है। वह व्रज नहीं है, यमुना नहीं है; पर है कुछ वैसा ही। रात बीत गयी, सबेरा होनेके पहले ही डाकूने कहा—'देखिये पण्डितजी, आप नये आदमी हैं। आप किसी पेड़की आड़में छिप जाइये। वह कहीं आपको देखकर न आये तो! अब प्रातःकाल होनेमें विलम्ब नहीं है। अभी आयेगा।' डाकू पण्डितजीसे बात कर ही रहा था कि मुरलीकी मोहक ध्वनि उसके कानोंमें पड़ी। वह बोल उठा—'सुनिये, सुनिये पण्डितजी! बाँसुरी बज रही है! कितनी मधुर! कितनी मोहक! सुन रहे हैं न।' पण्डितजी—'कहाँ जी, मैं तो कुछ नहीं सुन रहा हूँ। क्या तुम पागल हो गये हो।' डाकू—'पण्डितजी, पागल नहीं, ज़रा ठहरिये, अभी आप उसे देखेंगे। रुकिये, मैं पेड़पर चढ़कर देखता हूँ कि वह अभी कितनी दूर है।'

डाकूने पेड़पर चढ़कर देखा और बोला—'पण्डितजी, पण्डितजी; अब वह बहुत दूर नहीं है, उतरकर उसने देखा कि

थोड़ी दूरपर वैसा ही विलक्षण प्रकाश फैल रहा है। वह आनन्दके मारे पुकार उठा—'पण्डितजी, यह है, यह है। उसके शरीरकी दिव्य ज्योति सारे वनको चमका रही है।' पण्डितजी—'मैं तो कुछ नहीं देखता।' डाकू 'ऐसा क्यों पण्डितजी, वह इतना निकट है, इतना प्रकाश है; फिर भी आप नहीं देख पाते हैं? अजी, आप जङ्गल, नदी, नाला सब कुछ देख रहे हैं और उसको नहीं देख पाते!' पण्डितजी—'हाँ भाई, मैं तो नहीं देख रहा हूँ। देखो, यदि सचमुच वे हैं तो तुम उनसे कहो कि 'आज तुम जो देना चाहते हो, सब इसी ब्राह्मणके हाथपर दे दो।' डाकूने स्वीकार कर लिया।

अबतक भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी डाकूके पास आकर खड़े हो गये थे। डाकूने कहा 'आओ, आओ; मैं आ गया हूँ। तुम्हारी बाट जोह रहा था।' श्रीकृष्ण—'गहने लोगे?' डाकू—'नहीं भाई, मैं गहने नहीं लूँगा। जो तुमने दिये थे, वे भी तुम्हें लौटा देनेके लिये लाया हूँ, तुम अपना सब ले लो। लेकिन भाई, ये पण्डितजी मेरी बातपर विश्वास नहीं कर रहे हैं। विश्वास करानेके लिये ही मैं इन्हे साथ लाया हूँ। मैं तुम्हारी वंशी-ध्वनि सुनता हूँ। तुम्हारी अङ्गकान्तिसे चमकते हुए वनको देखता हूँ, तुम्हारे साथ बातचीत करता हूँ; परन्तु पण्डितजी यह सब देख-सुन नहीं रहे हैं। यदि तुम इन्हें नहीं दीखोगे तो ये मेरी बातपर विश्वास नहीं करेंगे। श्रीकृष्ण—'अरे भैया, अभी ये मेरे दर्शनके अधिकारी नहीं हैं। बूढ़े, विद्वान् अथवा पण्डित हैं तो क्या हुआ?' डाकू—'नहीं भाई, मैं बलिहारी जाऊँ तुमपर। उनके लिये जो कहो वही कर दूँ। परन्तु एक बार

इन्हें अपनी बाँकी झाँकी ज़रूर दिखा दो।' श्रीकृष्णने हँसकर कहा--'अच्छी बात, तुम मुझे और पण्डितजीको एक साथ ही स्पर्श करो।' डाकूके ऐसा करते ही पण्डितजीकी दृष्टि दिव्य हो गयी। उन्होंने मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर मदनमोहनकी बाँकी झाकीके दर्शन किये। फिर तो दोनों निहाल होकर भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े।

भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्णकी लीला ऐसी ही है। वे कहीं प्रकट हैं तो कहीं आँखमिचौनी खेल रहे हैं। जिसने विश्वासकी आँखोंसे उन्हें देखना चाहा, उसे वे मिले ठीक उसी रूपमें, जिस रूपमें उसने चाहा। डाकू और पण्डितमें उनके लिये कोई भेद नहीं है। केवल विश्वास चाहिये, प्रेम चाहिये, लगन चाहिये। क्या हम भी उसी डाकूकी तरह, नहीं-नहीं, भक्तराज डाकूकी तरह विश्वासके नेत्रसे भगवान्‌को देख सकेंगे? अवश्य।

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय!

प्रतिपाद्य तत्त्व

श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य स्वयं परमात्मा हैं। परमात्माके नामके सम्बन्धमें कोई विशेष आग्रह नहीं है, चाहे कोई ब्रह्म कह लें और चाहे भगवान् कह लें। भगवान्का स्वरूप क्या है? भागवतके अनुसार इसका उत्तर देना थोड़ा कठिन है। श्रीमद्भागवत पूर्ण ग्रन्थ है, उसमें भगवान्के विविध स्वरूपोंका वर्णन हुआ है। निर्विशेष-सविशेष, निराकार-साकार—जो जैसा अधिकारी हो, वह भगवान्का वैसा ही रूप भागवतमें प्राप्त कर सकता है। वास्तवमें भगवान् सर्वस्वरूप हैं, उन्हें सब रूपोंसे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा होनेपर भी श्रीमद्भागवतमें एक विशेष वर्णनशैली है। उसके अनुसार विचार करनेपर और ग्रन्थोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतकी असाधारण विशेषता प्रकट होती है।

आश्रयतत्त्व

श्रीमद्भागवतमें दस विषयोंका वर्णन आता है। अन्य सब बातें उन्हींके अन्तर्गत आ जाती हैं। सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—यही दस विषय श्रीमद्भागवतमें वर्णित हुए हैं। इनमें प्रधान है—आश्रय। 'आश्रय' शब्दका अर्थ जीवोंके शरण लेने योग्य भगवान् अथवा व्यक्त—अव्यक्त, आभास और निरोधका अधिष्ठान निरपेक्ष साक्षी ब्रह्म है। इसी आश्रयतत्त्वकी उपलब्धिके लिये अन्य नौ विषयोंका वर्णन

हुआ है। सर्ग-विसर्ग आदिके वर्णनद्वारा भगवान्‌की अनन्त महिमा और ब्रह्मके स्वरूपका बोध कराकर अविद्याको निवृत्त कर देना ही श्रीमद्भागवतका उद्देश्य है।

यों तो श्रीमद्भागवतके प्रत्येक स्कन्धमें ही आश्रयका निरूपण किया गया है, तथापि सगुण–साकाररूप आश्रयका दशम स्कन्धमें और निर्गुण-निराकाररूप आश्रयका बारहवें स्कन्धमें विशेष वर्णन हुआ है। श्रीमद्भागवतके अनुसार आश्रयका स्वरूप क्या है, यह विवेचन करनेके पूर्व भारतीय सनातनधर्मानुगत सम्प्रदायाचार्योंके द्वारा निर्णीत आश्रय-स्वरूपका विचार कर लेना आवश्यक है।

अद्वैतसम्प्रदायके प्रधान आचार्य भगवान् शङ्कर कहते हैं—

अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्येवमादिषु अपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते।

(शारीरकभाष्य ३।२।११)

'सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके वर्णन मिलनेपर भी समस्त विशेषण और विकल्पोंसे रहित निर्गुण स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिये, सगुण नहीं। क्योंकि उपनिषदोंमें जहाँ कहीं ब्रह्मका स्वरूप बतलाया गया है वहाँ अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय आदि निर्विशेष ही बतलाया गया है।'

विशिष्टाद्वैतके प्रधान आचार्य श्रीरामानुज शङ्कराचार्यके ठीक विपरीत ब्रह्मको निर्गुण न मानकर सगुण ही मानते हैं।

अत्रेदं तत्त्वं चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम्। तत् कदाचित् स्वस्मात् स्वशरीरतयापि पृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरं तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यत्।

(श्रीभाष्य २।१।१४)

'इस विषयमें तत्त्व इस प्रकार है, ब्रह्म ही सदा 'सर्व' शब्दका वाच्य है; क्योंकि चित् और जड़ उसीके शरीर या प्रकारमात्र हैं। उसकी कभी कारणावस्था होती है और कभी कार्यावस्था। कारण अवस्थामें वह सूक्ष्मदशापन्न होता है, नाम-रूपरहित जीव और जड़ उसका शरीर होता है। और कार्यावस्थामें वह (ब्रह्म) स्थूलदशापन्न होता है, नाम-रूपके भेदके साथ विभिन्न जीव और जड़ उसके शरीर होते हैं। क्योंकि परब्रह्मसे उसका कार्य जगत् भिन्न नहीं है।'

अब देखिये श्रीमद्भागवत। यों तो इसमें सभी बातें आश्रयतत्त्वके निरूपणके लिये ही हैं, फिर भी दो स्थानोंपर अर्थात् द्वितीय स्कन्धके दसवें अध्यायमें और बारहवें स्कन्धके सातवें अध्यायमें आश्रयतत्त्वका साक्षात् लक्षण लिखा गया है—

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥
(२।१०।७–९)

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥
(१२।७।१९)

'सृष्टि और प्रलय अथवा विषय–प्रतीति एवं उसका अभाव—दोनों ही जिसके द्वारा प्रकाशित होते हैं, वह परब्रह्म ही आश्रय अर्थात् अधिष्ठान है; उसीको परमात्मा कहते हैं। जो आध्यात्मिक पुरुष है, वही आधिदैविक है; जो उन दोनोंको पृथक्–पृथक् करनेवाला है, वह आधिभौतिक पुरुष है। एकके न होनेपर दूसरेकी उपलब्धि नहीं होती। ये तीनों सापेक्ष हैं। इन तीनोंके भाव और अभावको जो जानता है, वह अपेक्षाहीन साक्षी आश्रय है। जीवकी जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञके मायामय रूपोंमें जिसका व्यतिरेक और अन्वय होता है वह संसार दशा और उसके बाधका अधिष्ठान ब्रह्म ही आश्रय है।'

श्रीमद्भागवतकी चतुःश्लोकीमें जिस परमतत्त्वका वर्णन किया गया है, वह आश्रयतत्त्व ही है (देखिये २।९)। और भी अनेकों स्थानोंमें कारणात्मक और कार्यात्मक, पर और अपर, द्रष्टा एवं दृश्यका

निषेध करके जिस तत्त्वका वर्णन किया गया है, वह ब्रह्मतत्त्व ही है। बारहवें स्कन्धमें चार प्रकारके प्रलयोंका वर्णन करनेके पश्चात् आत्मतत्त्वका बड़ा ही सुन्दर वर्णन आया है। ग्यारहवें स्कन्धमें स्थान–स्थानपर मुक्ति और बन्धनसे परे जिस तत्त्वका उपदेश किया गया है, वह आश्रय ही है। गीतामें परा–अपरा प्रकृति, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, क्षर–अक्षर और प्रकृति-पुरुषसे परे जिस तत्त्वका वर्णन हुआ है वही 'पुरुषोत्तम' श्रीमद्भागवतका आश्रयतत्त्व है। वह ब्रह्म भी है, भगवान् भी है और जीवकी बुद्धिमें आनेवाले ब्रह्म तथा भगवान्से अत्यन्त परे, सर्वथा अचिन्त्य और अनिर्वचनीय भी।

आश्रयतत्त्वका लक्षण बतलानेके लिये ऊपर जिन श्लोकोंका उल्लेख किया गया है, उनमें तीन बातोंकी प्रधानता है—अधिष्ठानता, साक्षिता, निरपेक्षता। सृष्टि और प्रलय, भाव और अभाव दोनोंसे वह परे है और दोनोंमें है। उसीसे इन दोनोंकी सत्ता है। उसके विना ये नहीं रह सकते और इनके विना भी वह रहता है। आध्यात्मिक पुरुषका अर्थ है—नेत्रादि इन्द्रियोंके अभिमानी जीव; आधिदैविक पुरुषका अर्थ है—नेत्रादि इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवता; आधिभौतिक पुरुषका अर्थ है—नेत्रगोलक आदि वाला स्थूलशरीर। ये तीनों सापेक्ष हैं। यदि इनमेंसे एक न रहे, तो शेष दो व्यर्थ हो जायँगे। दृश्यके बिना दर्शन और द्रष्टा अपना काम नहीं कर सकते, दर्शनके बिना दृश्यकी दृश्यता और द्रष्टाका द्रष्टृत्व दोनों ही लुप्त हो जाते हैं। यदि द्रष्टा ही न हो, तब तो दर्शन और दृश्यकी कल्पना ही नहीं हो सकती। इसलिये ये सब सापेक्ष और बाधित हैं। इन तीनोंके भाव और अभावको देखनेवाला आत्मा इनका निरपेक्ष साक्षी है। जाग्रत्,

स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें विश्व, तैजस, प्राज्ञके रूपमें उनका अनुभव करनेवाला और समाधि अवस्थामें उनसे परे रहनेवाला एवं मूर्च्छादि अवस्थाओंमें उनके अभावका अनुभव करनेवाला आत्मा ही आश्रय ब्रह्म है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आश्रयतत्त्वकी इस व्याख्यासे ब्रह्म ही आश्रयतत्त्व सिद्ध होता है, भगवान् श्रीकृष्ण नहीं। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण और ब्रह्म दो नहीं, एक ही हैं। ब्रह्मसूत्रके ब्रह्म, गीताके पुरुषोत्तम और श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण एक ही परम वस्तु हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

भाव यह कि तत्त्ववेत्ता लोग एक ही अद्वितीय ज्ञानस्वरूप तत्त्वको ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहते हैं। श्रीकृष्ण ही जगत्के असंख्य जीवोंके एकमात्र आत्मा हैं। जगत्के कल्याणके लिये वे भी आत्ममायासे शरीरधारीकी भाँति प्रतीत होते हैं।

वास्तवमें भगवान्में शरीर और शरीरीका भेद नहीं होता। जीव अपने शरीरसे पृथक् होता है; शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है और वह उसे छोड़ सकता है। परन्तु भगवान्का शरीर जड़ नहीं, चिन्मय होता है। उसमें हेय-उपादेयका भेद नहीं होता, वह सम्पूर्णतः आत्मा ही है। शरीरकी ही भाँति भगवान्के जो गुण होते हैं, वे

भी आत्मस्वरूप ही होते हैं। इसका कारण यह है, कि जीवोंमें जो गुण होते हैं, वे प्राकृत होते हैं; वे उनका त्याग कर सकते हैं। भगवान्‌के गुण निजस्वरूपभूत और अप्राकृत हैं, इसलिये वे उनका त्याग नहीं कर सकते। एक बात बड़ी विलक्षण है कि भगवान्‌के शरीर और गुण जीवोंकी ही दृष्टिमें होते हैं, भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं। भगवान् तो निजस्वरूपमें, समत्वमें ही स्थित रहते हैं; क्योंकि वहाँ तो गुण-गुणीका भेद है ही नहीं। भगवान्‌के इसी स्वरूपकी ओर सभी आचार्योंका लक्ष्य है। उनकी वर्णनशैली विभिन्न होनेके कारण कहीं-कहीं परस्पर विरोध प्रतीत होता है; परंतु विचार-दृष्टिसे देखनेपर आश्रयस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्णमें सबका समन्वय हो जाता है। भगवान्‌के ये स्वरूपभूत अचिन्त्य गुण उनकी नित्य शक्ति ह्लादिनीके ही प्रकाश हैं। ह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधिकाजी हैं, जो भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हैं। इस दृष्टिसे श्रीराधाकृष्णको भी आश्रयतत्त्व कहना ठीक ही है। इसी दशम तत्त्व आश्रयतत्त्वको विशुद्ध रूपमें जानने और प्राप्त करनेके लिये शेष नौ तत्त्वों—सर्ग, विसर्ग आदिका वर्णन किया जाता है * । अब इस बातपर विचार किया जायगा कि सर्ग, विसर्ग आदिका स्वरूप क्या है और इनके द्वारा आश्रयतत्त्वका ज्ञान और उपलब्धि कैसे होती है।

सर्ग

'सर्ग' का अर्थ है सृष्टि। सृष्टिके सम्बन्धमें नाना प्रकारके मत उपलब्ध होते हैं। यह जगत् क्या है, और पहले-पहल इसकी

---

* दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

उत्पत्ति कैसे हुई—इसके सम्बन्धमें वेदोंमें, उपनिषदोंमें, दर्शनोंमें और पुराणोंमें अनेकों प्रकारकी प्रक्रिया मिलती हैं। श्रीमद्भागवतमें भी कई प्रकारसे सृष्टिका वर्णन आया है। आस्तिक सिद्धान्तके ग्रन्थोंमें आश्रय एवं आधाररूपसे परमात्माको तो सभीने स्वीकार किया है, परंतु सृष्टि-क्रममें कुछ-न-कुछ मतभेद सभी रखते हैं। यहाँ उन मतभेदोंकी गणना भी कठिन है, सबका वर्णन तो दूर रहा।

इस विषयके तीन मतवाद बहुत प्रसिद्ध हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें परमाणुके रूपमें चार भूत, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नित्य द्रव्य माने गये हैं। इनके अतिरिक्त गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि पदार्थ भी हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें अनेक जीवात्माओंसे विलक्षण परमात्मा निमित्त बनकर बिखरे हुए परमाणुओंको संयुक्त करने लगता है। परमाणुओंके संयोगसे ही नाना प्रकारके पदार्थोंकी सृष्टि होने लगती है। परमाणुओंके संयोगका आरम्भ होनेपर ही सृष्टि होती है, इसलिये इस मतका नाम 'आरम्भवाद' है। जो लोग परमाणुओंके संयोगमें ईश्वरको निमित्त मानते हैं, वे सेश्वर हैं और जो नहीं मानते, वे निरीश्वर। सनातनधर्मके शास्त्रोंमें सेश्वर न्याय और वैशेषिक ही स्वीकृत हुए हैं और वही युक्तियुक्त भी हैं।

सेश्वर सांख्य अथवा योगदर्शन विभिन्न परमाणुओंको सृष्टिका कारण न मानकर त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको मानता है और भगवान्के द्वारा प्रकृतिके क्षुब्ध किये जानेपर त्रिगुणका विकास मानता है। त्रिगुणके परिणामसे ही सृष्टि होती है, ऐसी इसकी मान्यता है।

कोई-कोई परिणाममें ईश्वरको निमित्त मानते हैं और कोई परिणत होना प्रकृतिका स्वभाव ही मानते हैं। जो परिणामको प्रकृतिका स्वभाव मानते हैं, वे पुरुषविशेषके रूपमें ईश्वरको उदासीन और असङ्ग मानते हैं अथवा नहीं मानते। श्रीमध्वाचार्य परमात्मासे प्रकृतिको सर्वथा भिन्न मानते हैं, इसलिये वे भी प्रकृतिको ही जगत्का कारण मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्य प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वोंको मानते हुए भी सबको ब्रह्म ही कहते हैं; इसलिये उनके मतमें ब्रह्म ही अंशविशेषमें प्रकृतिरूपसे परिणत होता है और वही जगत् बनता है। इसलिये परिणामवादके दो रूप हुए—एक तो गुण-परिणामवाद और दूसरा ब्रह्म-परिणामवाद। ब्रह्ममें परिणाम होनेसे वह विकारी हो जायगा, इस आपत्तिका निराकरण करनेके लिये श्रीवल्लभाचार्यने अविकृत परिणामवाद माना है।

बहुत-से आचार्य—जिनमें श्रीशंकराचार्य प्रधान हैं—ब्रह्मसे पृथक् परमाणु, प्रकृति और उनके कार्यकी सत्ता नहीं स्वीकार करते। वे न आरम्भवाद मानते हैं और न तो परिणामवाद ही। उनके मतमें सृष्टिकी व्यवस्था केवल विवर्तवादसे लगती है। सत्य वस्तुमें वास्तविक परिवर्तनको 'परिणाम' कहते हैं और अवास्तविक होनेपर भी भ्रमसे दीख पड़नेवाले परिणामको 'विवर्त' कहते हैं। उनके मतमें इस सृष्टिका दीखना विवर्त है। उस विवर्तको 'माया' कहते हैं। यह माया वास्तवमें कोई तत्त्व नहीं है। जिनकी दृष्टिमें सृष्टि सत्य है, उनको क्रमशः जगत्की उत्पत्तिका तत्त्व बतलाते हुए वे प्रकृति तक ले जाते हैं और एक अद्वितीय चित्स्वरूपमें प्रकृति को असत् बतलाकर एकमात्र सद्वस्तुकी प्रतिष्ठा करते हैं।

उनके सिद्धान्तमें सृष्टि आदिका वर्णन केवल अध्यारोपदृष्टिसे अपवादके द्वारा परम तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके उसी स्वरूपमें स्थित होनेके लिये है। एक बार जगत्का अध्यारोप हो जानेके पश्चात् चाहे उसका परिणाम जिस प्रकारसे माना जाय, विवर्तवादियोंको कोई आपत्ति नहीं है; केवल इन सबका अपवाद होकर स्वरूपकी उपलब्धि होनी चाहिये। उनका तात्पर्य सृष्टिवर्णनमें नहीं है। श्रीनिम्बार्काचार्यने दृष्टिभेदसे सभी प्रकारके सिद्धान्तोंको संभव माना है।

इन मतोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से मत हैं, जिनके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपमें सृष्टितत्त्वका निरूपण होता है। पूर्वमीमांसक और व्यावहारिक दृष्टिसे वेदान्ती भी जीवोंके अदृष्टको ही सृष्टिका हेतु स्वीकार करते हैं। कालकी क्रीड़ा, दैवकी इच्छा, ईश्वरका रमण, और बहुत-से कारण बतलाये जाते हैं। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक-जगत्में सृष्टिके सम्बन्धमें और विशेषकर अतीन्द्रिय पदार्थोंके सम्बन्धमें अबतक कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं हुआ है। पहले वे भी अनेक पदार्थोंके संयोगसे सृष्टि मानते थे, पीछे एक पदार्थके विकाससे स्वीकार करने लगे हैं। अभी यंत्र-प्रत्यक्ष न होनेके कारण वे यह निर्णय देनेमें असमर्थ हैं कि जगत्के मूलमें रहनेवाला एक तत्त्व चेतन है या जड़। परन्तु भारतीय ऋषि-मुनियोंने अपनी योगदृष्टिसे, अनुभवसे इस बातको निश्चितरूपसे जान लिया है कि सृष्टिके मूलमें केवल चित् है और चिद् वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

श्रीमद्भागवतके सृष्टितत्त्वका वर्णन विभिन्न प्रकारसे आता है। सर्गका लक्षण करते हुए कहा गया है—

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् ....॥
(२।१०।३।)

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥
(१२।७।११)

'परमात्माके द्वारा साम्यावस्था प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर गुणोंकी विषमतासे महत्तत्त्व, त्रिविध अहङ्कार, तन्मात्रा, इन्द्रिय और पञ्चभूतोंकी सृष्टि होना सर्ग है।'

अव्यक्तसे व्यक्त होना, एकसे अनेक होना, निराकारसे साकार होना, सूक्ष्मका स्थूल होना सृष्टि है। यह परिणाम प्रकृतिका है। श्रीमद्भागवतके अनेक स्थानोंमें माया और प्रकृतिको एकार्थक बतलाया है, अनेक स्थानोंमें भगवान्‌की इच्छाको ही प्रकृति कहा है। प्रकृति, जीव और विविध कार्योंके रूपमें स्वयं भगवान् ही प्रकट होते हैं। इनमें वे प्रविष्ट न होनेपर भी प्रविष्टकी भाँति प्रतीत होते हैं, वे स्वयं ही अपने-आपकी अपने-आपमें अपने-आपसे ही सृष्टि करते हैं। वे ही स्रष्टा, सृज्य और सृष्टि हैं। उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। दीख पड़नेवाली विभिन्नता मायिक एवं असत् है। जैसे स्वप्नमें कुछ न होनेपर भी बहुत कुछ दीखता है, वैसे ही दृश्य न होनेपर भी दर्शन हो रहा है। इस प्रकारके अनेकों वचन श्रीमद्भागवतको अभिमत मालूम पड़ते हैं। तीसरे स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायमें परमाणुओंके संयोगसे भी सृष्टिका वर्णन मिलता है।

इन विभिन्नताओंका तात्पर्य क्या है—सृष्टि-वर्णन अथवा सृष्टिके मूलमें स्थित तत्त्वका दर्शन ? इस विषयपर जब हम विचार करते हैं तो बहुत ही स्पष्ट मालूम होता है कि बुद्धि जिन पहलुओंको लेकर सृष्टिपर विचार कर सकती है, सृष्टिके सम्बन्धमें जितनी दृष्टियाँ संभव हैं, उन सबके आधारपर विचार करके ऋषि-मुनियोंने सबकी अन्तिम गति भगवान्‌को ही बतलाया है। सृष्टि-क्रमको अनादि माना जाता है। सृष्टिके बाद प्रलय और प्रलयके बाद सृष्टि—यह परम्परा अनादि कालसे चल रही है। तमोगुणकी प्रधानतासे प्रलय होता है और रजोगुणको प्रधानतासे सृष्टि। जीवोंके कर्मकी दृष्टिसे सृष्टिके चार हेतु कहे जा सकते हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धान्तर्गत सतासीवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें इसका वर्णन आया है। करुणासागर भगवान् प्रलयकालीन अज्ञानकी घोर निद्रामें सोते हुए जीवोंको इसलिये जगाते हैं कि वे कर्म करके पुरुषार्थ साधन करें। पुरुषार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ मोक्ष ही है; अतः मोक्षके लिये ही, संसारसे मुक्त होनेके लिये ही संसारकी सृष्टि हुई है—ऐसा सिद्धान्त होता है।

दूसरी दृष्टि है भावकी दृष्टि—भक्तकी दृष्टि। इस दृष्टिसे भगवान् क्रीड़ा करनेके लिये, रमणके लिये सृष्टि करते हैं—'स एकाकी नारमत ततो द्वितीयमसृजत', 'स रन्तुमैच्छत्' इत्यादि श्रुतियाँ इस दृष्टिमें प्रमाण हैं। भगवान् जीवों और जगत्‌का निर्माण करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, यह चराचर जगत् उनकी लीला है। भक्तकी इस दृष्टिमें कर्म और तज्जन्य सुख-दुःखका अस्तित्व नहीं है। कर्म और उसके फल भी लीलामात्र हैं। इस दृढ़ निश्चयपर स्थिर होकर भक्त प्रतिक्षण भगवान्‌की लीलाओंका दर्शन करता रहता

है और सभी परिस्थितियोंमें अपने प्रियतमके स्मरणमें मस्त रहता है।

ज्ञानकी दृष्टिसे भी यह प्रतीतिमात्र जगत् प्रतिक्षण अपने भावाभावके साक्षी चिन्मात्र अधिष्ठानका बोध कराया करता है। वृत्तिकी गाढ़ता होनेपर तो प्रतीति भी नहीं होती, केवल निजस्वरूप ही रहता है। इसी निजस्वरूपको पहचाननेके लिये सृष्टिक्रमोंका वर्णन है, चाहे किसी भी क्रमसे पहचाना जाय। इसके अतिरिक्त विभिन्न कल्पोंके भेदसे भी सृष्टिवर्णनमें भिन्नता पायी जाती है। कभी आकाशसे, कभी तेजसे, कभी जलसे और कभी प्रकृतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। उन सभी कल्पोंको ध्यानमें रखकर विभिन्न प्रकारके वर्णन आते हैं। सृष्टिक्रमका वर्णन श्रीमद्भागवतके दूसरे, तीसरे स्कन्धोंमें विस्तारके साथ हुआ है—जो कि उपनिषद्, गीता और मनुस्मृति आदिसे मिलता-जुलता ही है।

विसर्ग

प्रकृतिके गुणवैषम्यसे जो विराट् सृष्टि होती है, उसका नाम 'सर्ग' है। विराट्के एक अण्डमें ब्रह्माके द्वारा जो व्यष्टि सृष्टि अथवा विविध सृष्टि होती है, उसका नाम 'विसर्ग' है। जिस प्रकार सर्गके आधार, सर्गके उपादान, सर्गके निमित्त एवं सर्गके रूपमें, सर्गके परे और सर्गाभावमें भी परमात्माका दर्शन करके जीव कृतकृत्य होता है, वैसे ही विसर्ग भी परमात्माकी अनुभूति प्राप्त करनेके लिये ही है। सर्ग महान् है और विसर्ग अल्प। एक ब्रह्माण्डको अपना शरीर मानने वाले रजोगुणके अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मा हंसरूपी परमात्माके

आधारपर विद्यारूपी सरस्वतीके सहारे चारों वेदोंके ज्ञानका आश्रय लेकर जीवोंके प्राक्तन कर्मका स्मरण करते हैं और उन कर्मोंके अनुसार नाना प्रकारके भोगायतन और कर्मायतन शरीरोंका निर्माण करते हैं। पहले-पहल उन्हें भी सृष्टिके सम्बन्धमें कुछ स्मरण नहीं होता। वे सृष्टिके मूलका अन्वेषण करते हैं, फिर भगवान्‌की प्रेरणासे तप करते हैं। सर्गके आश्रय भगवान्‌का साक्षात्कार होता है, तब वे 'यथापूर्वमकल्पयत्' सृष्टि करते हैं।

ब्रह्माकी सृष्टि मानसिक ही होती है। वे शरीरसंयोगपूर्वक बैजी सृष्टि नहीं करते। इसलिये उनकी सृष्टिमें विविधता रहती है और उस विविधताके कारण होते हैं जीवोंके पूर्वजन्मके विविध कर्म। ब्रह्मा भगवत्प्राप्त ज्ञानसे उन्हें जानकर उनके अनुसार सृष्टि करते हैं। ब्रह्माके साथ ही और भी बहुत-से मरीचि, कश्यप मनु आदि आधिकारिक पुरुष होते हैं, जिन्हें मानसिक सृष्टि करनेका अधिकार होता है। यही कारण है कि कश्यपसे देव-दैत्य, पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम—सब प्रकारकी सृष्टि होती है। निरुक्तके अनुसार 'कश्यप' का अर्थ है 'पश्यक'—देखनेवाला, देखनेमात्रसे सृष्टि करनेवाला। श्रुतियोंमें मानसिक सृष्टिका वर्णन प्राप्त होता है—

'मनसा साधु पश्यति।' 'मानसाः प्रजा असृजन्त।'

'मनसे परोक्ष कर्मोंको भी देख लेता है।' मनसे ही प्रजाकी सृष्टि होती है।' महाभारतमें भी कहा गया है—

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

'सर्वसमर्थ भगवान् ब्रह्माने मनसे ही यह सारी सृष्टि की। ऋषियोंने भी तपस्याके बलसे पहले मानसी ही सृष्टि की थी। आदिदेव ब्रह्माके द्वारा जो वेदमूलक अक्षय, अव्यय और धर्मानुकूल सृष्टि हुई उसका नाम मानसी सृष्टि हुआ।'

विष्णुपुराणमें सृष्टिके कई स्तर बतलाये गये हैं। एक तो अज्ञानयुक्त प्रकाशहीन स्थावर सृष्टि है, जिसमें केवल अन्नमय कोषका विशेष विकास है और दूसरे कोष अविकसित हैं। दूसरी सृष्टि स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज पशुओंकी है—जिनमें क्रमशः प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषका यत्किञ्चित् विकास हुआ है। उनके अन्तःकरणमें ज्ञानका लक्ष्य नहीं है। उनके लिये धर्माधर्मका बन्धन नहीं है, इसलिये वे प्राकृतिक रूपसे ही अभिमानी हैं। तीसरी सृष्टि देवताओंकी है, जो भोग-विलासमें ही विशेष प्रीति रखते हैं। यह सब-की-सब असाधक सृष्टि है। इसके बाद मनुष्योंकी सृष्टि हुई, जो कि साधक और कर्मप्रवण है। यह सब ब्रह्माकी मानसी सृष्टि है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माकी मानसी सृष्टिका वर्णन है, यथा—

भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यांस्तदासृजत् ।

और भी—

अथाभिध्यायतः सर्गे दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।—इत्यादि

मनुस्मृतिमें वर्णन आता है कि ब्रह्माके पुत्रोंने और भी मानसी सृष्टि की जिससे देवता, दैत्य, महर्षि आदिकी उत्पत्ति हुई। काल-क्रमसे, युगपरिवर्तनसे तपःशक्ति क्षीण हो जानेके कारण आगे चलकर मानसी सृष्टिका होना बंद हो गया, केवल मैथुनी सृष्टि रह गयी। फिर भी समय-समयपर ऐसे तपःसिद्ध योगी पुरुष होते रहे जिनके द्वारा मानसी, चाक्षुषी आदि सृष्टि होती रही। समष्टि तमोगुणके उद्रेकसे अब ऐसा समय आ गया है कि लोग इस बातपर विश्वास करनेमें हिचकिचाने लगे हैं कि बिना स्त्री-पुरुषके संयोगके भी सृष्टि हो सकती है। यह सृष्टितत्त्वपर संयम न करनेका फल है।

आर्य-शास्त्रोंके अनुसार सृष्टिके सात स्तर निश्चित होते हैं—

१—मानसी सृष्टि, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

२—ऐसी सृष्टि, जिसमें स्त्री-पुरुष आदिके लिङ्गभेद न हों।

३—एक ही शरीरमें स्त्री-पुरुष दोनोंकी सृष्टि।

४—स्त्री-पुरुष पृथक्-पृथक् रहकर भी अपनी मानसिक शक्तिके द्वारा सन्तान उत्पन्न करें। आजके विज्ञानशास्त्रके अनुसार भी चिन्तनशक्तिकी महिमा छिपी नहीं है। केवल मानसिक शक्तिसे मेज हिलायीं जा सकती है, दूसरोंकी आँखें बंद की जा सकती हैं, पक्षी उड़ते हुए दिखाये जा सकते हैं। मानसिकशक्तिके बलसे गर्भाधान भी कराया जा सकता है, यह बात पाश्चात्त्य वैज्ञानिक भी विज्ञानकी दृष्टिसे असम्भव नहीं मानते। भगवान् व्यासकी मानसिक प्रेरणा और दृष्टिपातसे धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुरकी उत्पत्ति हुई थी तथा

देवताओंकी मानसिक प्रेरणासे कुन्तीके द्वारा पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई थी।

५—यज्ञावशिष्ट हविष्य अथवा अभिमन्त्रित चरुके द्वारा सृष्टि।

६—काल-क्रमसे उपर्युक्त शक्तियोंका ह्रास हो जानेसे केवल स्त्री-पुरुष-संयोगसे होनेवाली सृष्टि।

७—ब्रह्मचर्य, सदाचार, संयम आदिके अभावसे पुरुष एवं स्त्रियोंका शक्तिहीन होना तथा उनके संयोगके फलस्वरूप अवाञ्छित सृष्टिकी वृद्धि।

इस प्रकारसे ह्रास होते-होते मानसी सृष्टिसे वैजी सृष्टिकी श्रेणी आती है और आगे चलकर नपुंसकता और वन्ध्यात्व ही शेष रह जाता है। पुराणोंमें और श्रीमद्भागवतमें भी जो नाना प्रकारकी सृष्टियोंका वर्णन आता है, उनके प्रति अविश्वास न करके विचार-दृष्टिसे देखना चाहिये और एक-एक व्यक्तिके जो बहुत-बहुत पुत्रोंका वर्णन आता है, उसकी भी संगति लगानी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें विसर्गका बड़ा ही सुन्दर, बड़ा ही विस्तृत और विज्ञानानुमोदित वर्णन हुआ है। विसर्गका लक्षण वर्णन करते हुए कहा गया है—

विसर्गः पौरुषः स्मृतः। (२।१०।३)

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्॥ (१२।७।१२)

'ब्रह्माकी सृष्टिका नाम 'विसर्ग' है। ब्रह्माके द्वारा जीवोंकी वासनाके अनुसार जो एक बीजसे दूसरे बीजका होना—चराचरकी सृष्टि है, वही विसर्ग है। वासनाविशिष्ट सृष्टिका नाम विसर्ग है।'

यह विसर्ग भगवान्के सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, सर्वोत्कृष्ट शक्ति और सर्वोत्कृष्ट क्रियाका बोधक है। जगत्की प्रत्येक विचित्रता भगवान्के कौशलका स्मरण कराती है और उनकी क्रीड़ा देख-देखकर भक्त मुग्ध होता रहता है। श्रीमद्भागवतमें विसर्ग तत्त्वका वर्णन इसीलिये हुआ है कि लोग विसर्गके द्वारा आश्रयभूत भगवान्को ढूँढ़ निकालें और प्राप्त करें।

स्थान

आश्रयस्वरूप परमात्मामें विवर्त अथवा परिणामके द्वारा महत्तत्त्वादिकी विराट् सृष्टि और विराट्के अन्तर्गत एक ब्रह्माण्डकी सृष्टि किस प्रकार होती है—इन दोनों बातोंका वर्णन सर्ग और विसर्गके द्वारा किया जाता है। सर्ग सामान्य सृष्टि है और विसर्ग विशेष। जैसे एक ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है, वैसे ही असंख्यकोटि ब्रह्माण्डोंकी भी सृष्टि होती है। सृष्टिवर्णनके पश्चात् उसकी स्थितिका वर्णन होना चाहिये। 'स्थिति' शब्दका तात्पर्य है कि किन मर्यादाओंके पालनसे ब्रह्माण्ड स्थिर है, एक ब्रह्माण्डमें कितने लोक हैं और उनमें कौन-कौन-सी मर्यादाएँ हैं, लोकोंका विस्तार कितना है और उनका धारण किस प्रकार होता है—इन सब बातोंका विचार। इस विचारसे भगवान्की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है। वे ही समस्त लोकोंके धारक, मर्यादाप्रवर्त्तक और संरक्षक हैं—केवल एकब्रह्माण्डान्तर्गत लोकोंके ही

नहीं, असंख्य ब्रह्माण्डान्तर्गत लोकोंके। इसीसे श्रीमद्भागवतमें स्थितिका लक्षण करते हुए कहा गया है—'स्थितिर्वैकुण्ठविजयः' अर्थात् भगवान्की सर्वश्रेष्ठताका ख्यापन ही स्थिति है।

मनुष्यकी दृष्टि अत्यन्त स्थूल है। वह अपने आस-पासके कुछ स्थूल स्थानोंको ही देख पाता है। सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धमें साधारण मनुष्यकी जिज्ञासा बहुत बड़ी है। वह बहुत दूर-से-दूर स्थानों और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुओंको जाननेकी इच्छा करता है। इच्छाके वश होकर आधुनिक मनुष्योंने पृथ्वीके कुछ अंशोंकी खोज की है। अभीतक स्थूल पृथ्वीकी भी खोज पूरी नहीं हुई है। अनेकों जङ्गल, रेगिस्तान, पर्वतोंकी चोटी और समुद्रके तल ऐसे पड़े हैं जिनकी खोज न अबतक हो सकी है और न आगे निकट भविष्यमें होनेकी कुछ सम्भावना ही दीखती है। ऐसी अधूरी दृष्टिवाले लोग जब हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंके द्वारा वर्णित लोक-लोकान्तर और अनेकविध समुद्र एवं पृथ्वीके स्तरोंका वर्णन सुनते हैं, तब उनकी बुद्धि चकित हो जाती है ओर वे सहसा उनके अस्तित्वपर विश्वास करनेको तैयार नहीं होते। अनेकों वर्षतक योगसाधना करके विशिष्ट शक्तिसम्पन्न होकर ऋषि-मुनियोंने जिन सूक्ष्म तत्त्वों और स्थानोंका अनुभव प्राप्त किया था, वह केवल कुछ वर्षोंतक ग्रन्थ पढ़नेवालों और जड़ यन्त्रोंपर सर्वथा विश्वास करनेवालोंको कैसे प्राप्त हो सकता है?

योगदर्शनमें चतुर्दश लोकोंके ज्ञानकी प्रक्रिया बतलाते हुए कहा गया है कि सूर्यमें संयम करनेसे चतुर्दश भुवनोंका ज्ञान होता है। चतुर्दश लोकोंकी संख्या करते हुए भाष्यकार भगवान् व्यासने भूर्लोक,

भुवर्लोक, पाँच प्रकारके स्वर्लोक, माहेन्द्र स्वर्ग, प्राजापत्य स्वर्ग और तीन प्रकारके ब्राह्म स्वर्गका वर्णन किया है। पृथ्वीसे नीचे तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल—इन सात लोकोंका वर्णन आया है। ये ही ब्रह्माण्डके चौदह भुवन हैं। इन नीचेके लोकोंको 'बिलस्वर्ग' कहते हैं। इनमें ऊपरके लोकोंसे भी अधिक विषय-भोग करनेका अवसर है। इनमें दैत्य, दानव और सर्प—जो कि आसुरी प्रकृतिके हैं—अपनी इच्छाके अनुसार भोग भोगते हैं। श्रीमद्भागवतमें पाँचवें स्कन्धके चौबीसवें अध्यायमें इनका वर्णन है। ऊपरके लोकोंमें पृथ्वी, जिसमें हमलोग रहते हैं, और अन्तरिक्षलोक, जिसको भुवर्लोक भी कहते हैं—ये दोनों 'भौमस्वर्ग' कहलाते हैं। इसके ऊपर पाँच लोक दिव्य स्वर्ग हैं, जिनका वर्णन अभी किया गया है। स्वर्लोक माहेन्द्र स्वर्ग है, महर्लोक प्राजापत्य स्वर्ग है और जनलोक, तपोलोक एवं सत्यलोक ब्राह्म स्वर्ग हैं। इन लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक भोग और सात्त्विकताका उत्कर्ष होता जाता है। भूर्लोक और भुवर्लोकके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, नक्षत्र, पृथ्वी आदि सब स्थूल लोक हैं। (देखिये, पाँचवें स्कन्धका बीसवाँ अध्याय)

भूर्लोकके सात विभाग हैं। उन्हें अलग-अलग द्वीपके नामसे कहा गया है। भूर्लोकका अर्थ केवल पृथ्वी ही नहीं है, उसके अन्तर्गत बहुत-से सूक्ष्म और अदृश्य लोक भी हैं। इसलिये उन द्वीपोंको और उनके चारों ओर रहनेवाले समुद्रोंको स्थूल जलमय समुद्र नहीं मानना चाहिये। वे सब वातावरण हैं। एक द्वीपके ऊपर समुद्र, फिर द्वीप, फिर समुद्र इस क्रमसे सात द्वीप और सात समुद्र स्थित हैं। उन सात द्वीपोंके नाम ये हैं—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप,

क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलिद्वीप, और पुष्करद्वीप। इन द्वीपोंको क्रमशः लवणसमुद्र, इक्षुसमुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, दधिसमुद्र, दुग्धसमुद्र और उदकसमुद्र घेरे हुए हैं। एककी अपेक्षा दूसरेका परिणाम बड़ा होता गया है। यह सब द्वीप और समुद्र सुमेरुके आधारपर स्थित हैं। सुमेरु पर्वत स्थूल नहीं, दिव्य है—इस बातका वर्णन मत्स्यपुराणके एक सौ तेरहवें अध्यायमें आता है।* उसीकी शक्ति-रज्जुमें बँधकर यह सब-के-सब सूक्ष्म लोक स्थित रहते हैं।

सुमेरुकी दिव्यतासे ही उसके आश्रयसे रहनेवाले लोक और समुद्रोंकी भी दिव्यता सिद्ध हो जाती है। आकाशमें अनेकों प्रकारके वायुमण्डल हुआ करते हैं। इस पृथ्वीके ऊपर उड़नेपर थोड़ी ही दूर बाद ऐसा वायुमण्डल प्राप्त होता है, जिसमें विमान नहीं उड़ सकता। यह तो पृथ्वी-तत्त्व-प्रधान लोकका वायुमण्डल है। जो लोक केवल जल-तत्त्व-प्रधान अथवा अग्नि-तत्त्व-प्रधान हैं, उसके वायुमण्डलमें बहुत अन्तर होना निश्चित ही है। ऋषियोंने समाहित बुद्धिसे उन सब स्तरोंका अनुभव करके उनका नामकरण किया है। उन सबके बीचमें जम्बूद्वीप स्थित है। आजकल जितनी पृथ्वी स्थूल दृष्टिसे उपलब्ध होती है वह जम्बूद्वीपके ही अन्तर्गत है। इसका प्रमाण यह है कि समस्त पृथ्वी क्षार समुद्रसे ही परिवेष्टित है। बल्कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी जम्बूद्वीपका एक अंश है। जम्बूद्वीपमें नौ खण्ड अर्थात् नौ वर्ष हैं, उनमेंसे एक भारतवर्ष है और शेष देवलोकके ही भेद हैं।

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति।

(श्रीमद्भा० ५ । १७ । ११)

---

* मेरुस्तु शुशुभे दिव्यो राजवत् स तु वेष्टितः।

'अर्थात् जम्बूद्वीपमें भी भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है, दूसरे आठ वर्ष स्वर्गसे लौटे हुए लोगोंके लिये शेष पुण्यका उपभोग करनेके स्थान हैं। उनका नाम भौमस्वर्ग है।' पाँचवें स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायमें वर्णन हुआ है कि केवल इस भारतवर्षमें ही पाप-पुण्यादिके भेद हैं और यहीं उनका फल भी मिलता है।

इन विचारोंसे यह सिद्ध हुआ कि एक ब्रह्माण्डमें चौदह लोक हैं, उनमें भूर्लोक एक लोक है। भूर्लोकमें सात द्वीप हैं, और उनमें जम्बुद्वीप एक है। जम्बूद्वीपके एक वर्षका नाम भारतवर्ष है। मनुष्योंके रहने योग्य केवल भारतवर्ष ही है। दूसरे वर्षोंका वर्णन देवलोकोंके समान प्राप्त होता है।

यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने।
न तेषु शोको नायासो नोद्वेगः क्षुद्भयादिकम्॥
स्वस्थाः प्रजा निरातङ्काः सर्वदुःखविवर्जिताः।
दश द्वादश वर्षाणां सहस्राणि स्थिरायुषः॥
न तेषु वर्षते देवो भौमान्यम्भांसि तेषु वै।
कृतत्रेतादिकं नैव तेषु स्थानेषु कल्पना॥

(विष्णुपुराण २। २। ५३-५५)

'जम्बूद्वीपके किम्पुरुषादि आठ वर्षोंमें शोक, श्रम, उद्वेग और क्षुधाका भय आदि नहीं है। वहाँकी प्रजा स्वस्थ, निरातङ्क और सुखी है। उनकी आयु दस-बारह हजार वर्षकी होती है। उनमें वर्षा कभी नहीं होती, पार्थिव जलसे काम चलता है। उनमें युगभेद भी नहीं है।'

इससे सिद्ध होता है कि भारतवर्षके अतिरिक्त पृथ्वीके दूसरे भाग स्थूल नहीं हैं। जितने देश अथवा द्वीप उपलब्ध होते हैं, वे सब भारतवर्षके ही अन्तर्गत हैं। वर्तमान कालमें एशिया, अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका आदि उनका नाम हो गया है सही; परन्तु हैं वे सब भारतवर्षके ही प्रदेशविशेष। उनके नाम विष्णुपुराणमें गिनाये हैं—

भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान् निशामय।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥
(विष्णुपुराण २।३।६-७)

'भारतवर्षके नौ भाग हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व और वारुण—इन आठोंके अतिरिक्त नवाँ यह भारत द्वीप है। यह चारों ओरसे समुद्रसे घिरा हुआ है।'

मत्स्यपुराणमें भी ठीक इसी आशयका श्लोक मिलता है—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान् निबोधत।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥
आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधिः।
(अध्याय ११४)

'इस भारतवर्षके नौ भेद हैं। उनमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक फैला हुआ, समुद्रसे घिरा हुआ यह भारतद्वीप है।'

इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि आजकल जितनी पृथ्वी उपलब्ध होती है, उसका नाम भारतवर्ष है और आजकल जिसको हिन्दुस्थान कहा जाता है, वह भारतवर्षका एक द्वीपमात्र है। काल-क्रमसे दूसरे द्वीपोंके वे नाम जो शास्त्रोंमें लिखे हुए हैं बदल गये, वहाँकी भाषा परिवर्तित हो गयी, ब्राह्मण–वेद आदिका प्रचार न होनेसे वे हमसे दूर पड़ गये और शास्त्रोंमें जो उनके इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्ण आदि नाम लिखे हैं वे नाम भी आज आश्चर्यजनक हो गये हैं। भारतवर्षके नौ खण्डोंमें यही खण्ड सर्वप्रधान है। इसलिये इसका दूसरा नाम न रखकर भारतवर्षके हृदयभूत इस द्वीपको भी भारत ही कहा है। जैसे भूर्लोकका विस्तार बहुत बड़ा होनेपर भी कहीं-कहीं इस पृथ्वीको ही भूर्लोक कह देते हैं, वैसे ही समस्त मृत्युलोकका नाम भारतवर्ष होनेपर भी इस प्रधान द्वीपको ही कहीं-कहीं भारतवर्ष कह देते हैं। यह इस भूमिकी महान् महिमाका द्योतक है।

इन द्वीपोंके अतिरिक्त आठ उपद्वीप भी हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लङ्का। इनमेंसे सिंहल और लङ्का दो के नाम वही हैं, परन्तु शेष नाम बदल गये हैं। श्रीमद्भागवत महापुराणमें इन सबका वर्णन है; भारतवर्ष और भारतद्वीपकी नदियों, पर्वतों और भौगोलिक स्थितिका सम्पूर्ण चित्रण है। भूगोल और इतिहासके प्रेमियोंको उनका अन्वेषण करके प्राचीन शास्त्रोंकी सत्यताका अनुभव करना चाहिये। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भौगोलिक स्थितिमें निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है। हजारों वर्ष पूर्व जहाँ बड़े-बड़े पर्वत थे, वहाँ आज समुद्र हो गये हैं। पुरातत्त्वके अनुसन्धानकर्त्ताओंने पर्वतके ऊँचे

टीलोंपर जल-जन्तुओंकी हड्डियाँ प्राप्त करके ऐसा अनुमान किया है कि पहले यहाँ समुद्र था। लोगोंके देखते-देखते बहुत-से द्वीप समुद्रमें विलीन हो गये और बहुत-से जलमय प्रदेश लोगोंके रहने योग्य स्थान हो गये। इन परिवर्तनोंको देखते हुए यदि पौराणिक भूगोल और वर्तमान भूगोलमें कुछ अन्तर भी मिले तो पुराणोंको कपोलकल्पना नहीं समझना चाहिये, बल्कि उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें तीन प्रकारकी स्थितियोंका वर्णन आया है— पृथ्वीलोककी स्थिति, ऊर्ध्वलोककी स्थिति और अधोलोककी स्थिति। पृथ्वीलोकमें चार प्रकारके स्थान हैं—मनुष्यलोक, नरकलोक, प्रेतलोक और पितृलोक। मनुष्यलोकमें चार प्रकारके शरीर होते हैं—उद्भिज्ज शरीर (वनस्पति), स्वेदज शरीर (खटमल आदि), अण्डज शरीर (चींटी, पक्षी आदि) और जरायुज शरीर (पशु, मनुष्य)। ये सब मनुष्यलोकमें रहते हैं। इस लोककी मर्यादा शास्त्रोंमें निश्चित की गयी है। सब अपनी-अपनी मर्यादाका पालन करते हुए स्थित रहते हैं। लवणसमुद्रके तटपर भारतवर्षके आग्नेय कोणपर निम्न स्तरमें नरकका स्थान है, जो कि इन आँखोंसे देखा नहीं जा सकता। वे एक प्रकारके जेल हैं। पापोंका फल भोगनेके लिये वहाँ जीव जाते हैं। उनका शरीर 'यातना-शरीर' कहा जाता है। पृथ्वीसे ऊपर अन्तरिक्षमें थोड़ी दूरतक प्रेतलोक है, जिसमें मृत्युके अनन्तर अनेक प्रकारकी वासनाओंसे जकड़े हुए जीव वासना-शरीर ग्रहण करके निवास करते हैं। पितृलोक पुण्यात्माओंका स्थान है; उसमें कुछ नित्य पितर भी रहते हैं। इन सबकी मर्यादा सुनिश्चित है। ऊर्ध्वलोकोंमें ज्योतिश्चक्रसे

लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्तकी मर्यादा भी शास्त्रद्वारा सुनिश्चित है और अधोलोकोंमें तलसे लेकर पातालतककी। ये सब मर्यादाएँ भगवदिच्छासे ही निर्मित हुई हैं। श्रीमद्भागवतमें वर्णन आया है कि पृथ्वीके जितने विभाग हैं, वे सब सूर्यके द्वारा ही विभक्त होते हैं (५।२०।४५)। सूर्यकी किरणोंका जहाँतक विस्तार है और चन्द्रमाकी किरणें जहाँतक पहुँच सकती हैं, उस प्रदेशका नाम पृथ्वी है—वह चाहे समुद्र, नदी, पर्वत आदि किसी रूपमें क्यों न हो? * वास्तवमें बात यह है कि पञ्चीकरण-प्रक्रियाके अनुसार पृथ्वी-तत्त्व-प्रधान वायुमण्डलको पृथ्वी कहते हैं और जल-तत्त्व-प्रधान वायुमण्डलको समुद्र कहते हैं। इसी दृष्टिसे पृथ्वीकी लंबाई-चौड़ाई पचास करोड़ योजनकी कही गयी है और सात प्रकारके विभिन्न समुद्रोंका वर्णन भी इसी दृष्टिसे आया है। वर्तमान पृथ्वीकी मध्यरेखा अर्थात् व्यास आठ हजार मील अर्थात् एक हजार योजन है। गोल पदार्थके घनफल निकालनेकी रीतिसे यदि पृथ्वीका परिमाण निकाला जाय, तो वह पचास कोटि योजना होगा। यह एक दूसरी ही पद्धति है। पृथ्वी आदि ग्रहोंका सम्बन्ध प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्रोंका प्रायः एक-सा ही है और वैज्ञानिकोंने अबतक इस दिशामें कोई निश्चित मार्ग निकाला भी नहीं है। इसलिये इस विषयमें उनके अनिश्चित मतके साथ शास्त्रीय मतकी तुलना न करके शास्त्रीय वर्णनको ही प्रामाणिक मानना चाहिये।

---

* रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभास्यते ।
ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ॥
(विष्णुपुराण २।७।३)

प्राकृत सृष्टि (सर्ग) और ब्रह्माण्डान्तर्गत विविध सृष्टि (विसर्ग) जिस प्रकार भगवान्‌की महिमाको प्रकट करनेवाली हैं वैसे ही एक ब्रह्माण्ड और असंख्य ब्रह्माण्डोंकी स्थिति भी भगवान्‌की अद्भुत धारणा-शक्ति अथवा आधार-शक्तिकी महिमाको प्रकट करती है। प्रत्येक लोकमें कर्तव्य-अकर्तव्य, उनके सुफल-कुफल और महान् नियन्त्रणको देखकर सहृदय पुरुष नियन्त्रण करनेवाले भगवान्‌के चरणोंपर निछावर हो जाता है। इस नियन्त्रण और न्यायके साथ ही भगवान्‌की दया भी पूर्णतः रहती है। इसीलिये स्थिति अथवा मर्यादाका वर्णन करके पोषण अर्थात् भगवान्‌के अनुग्रहका वर्णन करना प्रासङ्गिक हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'पोषणं तदनुग्रहः।' पोषण अर्थात् भगवान्‌की अहैतुकी और सर्वतोमुखी दया।

पोषण

श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धमें मनुष्य, देवता और दैत्य—तीनोंपर ही भगवान्‌के अहैतुक अनुग्रहका दिग्दर्शन कराया गया है। मनुष्योंमें अजामिल महान् दुराचारी और पापिष्ठ था। उसने जान-बूझकर भगवान्‌का नाम भी नहीं लिया, मरते समय अपने पुत्रको पुकारा; फिर भी भगवान्‌ने उसपर महान् अनुग्रह किया और उसको सद्गति प्रदान की। देवताओंमें इन्द्रके द्वारा गुरुका अपमान और विश्वरूप ब्राह्मणका वध भी हो गया था; परन्तु भगवान्‌ने उनको अपना लिया। दैत्योंमें वृत्रासुर बड़ा ही भयङ्कर था। वह हाथी समेत इन्द्रको निगल गया; फिर भी भगवान्‌ने उसे अपना लिया। इन आख्यानोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् जाति-पाँति, धर्म-कर्म

और आचार-विचारपर दृष्टि न डालकर सारे जगत्को एकसमान अपनानेके लिये उद्यत हैं। उद्यत ही क्यों, सबको अपनाये हुए हैं। यह सारा जगत् भगवान्की गोदमें है और उनकी दयाके अनन्त समुद्रमें डूब--उतरा रहा है। सर्वत्र दया-ही-दयाका साम्राज्य है। चाहे कोई भी हो, कैसा भी क्यों न हो, वह भगवान्की अनन्त दयाका स्मरण करके सर्वदाके लिये आनन्दमें निमग्न हो सकता है। परमात्माकी इस दयाके स्मरण करानेवाले अनेकों चरित्र श्रीमद्भागवतमें हैं। पढ़-सुनकर आश्रयस्वरूप भगवान्की दयामें निमग्न होकर सभी अपने जीवनको कृतार्थ कर सकते हैं।

ऊति

प्रश्न यह होता है कि भगवान्की इतनी दया है और जगत्के जीव क्षुद्र सुखोंके लिये विषयोंमें भटक रहे हैं—इसका कारण क्या है ? भगवान् अपनी दयासे इन जीवोंकी रक्षा क्यों नहीं करते ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये श्रीमद्भागवतमें ऊतिका वर्णन आया है। 'ऊति' शब्दका अर्थ है—कर्मवासना 'ऊतयः कर्मवासनाः' (२।१०।४)। अर्थात् कर्म-बन्धनके कारण ही जीव भगवान्को भूल गया है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें, एक कर्मसे दूसरे कर्ममें और एक सङ्कल्पसे दूसरे सङ्कल्पमें भटकता रहता है। उसका विश्वास हो गया है कि मैं अमुक कर्म करके सुखी हो सकूँगा। इसी विश्वासके कारण वह अपने अंदर, बाहर और चारों ओर रहनेवाली परमनिधि भगवान् की दयाको भूल रहा है। वासनाओंके कारण प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष और शुभ-अशुभमें जकड़कर यह नाना प्रकारकी वाञ्छित-गतियोंमें आ-जा रहा है। यह सत्य है कि इन

वासनाओंके कारण ही जीव दुःखी हो रहा है। फिर भी इन वासनाओंका वर्णन इसलिये किया जाता है कि जीव इनकी दुःखरूपताको पहचाने और इन्हें छोड़कर परमात्माकी अनन्त दयाका स्मरण करके उन्हें प्राप्त करे।

वासना दो प्रकारकी होती है—एक शुभ और दूसरी अशुभ। महापुरुषोंकी कृपासे शुभ वासना होती है और उनके द्वेषसे अशुभ। वैकुण्ठके द्वारपाल जय-विजयको सनकादिकोंके द्वेषसे अशुभ वासना हुई और बहुत जन्मोंतक उन्हें भगवान्‌की दयासे वञ्चित रहना पड़ा। यद्यपि उनपर भी भगवान्‌का अनुग्रह था और भगवान् बार-बार अवतार लेकर उन्हें वासनाओंसे मुक्त करते रहे; परन्तु उनका जीवन बहुत दिनोंतक नीरस ही रहा और उन्हें बहुत विलम्बसे भगवत्कृपाकी अनुभूति हुई। इसके विपरीत प्रह्लादको गर्भमें ही सत्सङ्ग और भगवान्‌के परम भक्त नारदकी कृपा प्राप्त हुई। तत्क्षण ही भगवत्कृपाका अनुभव प्राप्त करके वे कृतकृत्य हो गये। इसलिये कर्म-वासनाओंका त्याग करके सद्गुण और सदाचारके अनुसार अपने जीवनका निर्माण करते हुए भगवत्कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। जिन सद्गुण और सदाचारोंके द्वारा कर्मवासनाओंका त्याग और सद्वासनाओंका ग्रहण होता है, उनका वर्णन सातवें स्कन्धके अन्तिम पाँच अध्यायोंमें हुआ है।

मन्वन्तर

यदि शीघ्र-से-शीघ्र महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त करके भगवान्‌की अनन्त दयाका अनुभव न कर लिया जायगा तो एक-दो जन्म नहीं,

एक-दो युग नहीं, इतने समयतक संसारमें भटकना पड़ेगा कि वर्षोंके द्वारा उसका हिसाब नहीं बताया जा सकता, मन्वन्तर भी उसके सामने बहुत थोड़े हैं। भटकनेके समयका हिसाब लगानेके लिये मन्वन्तर एक साधन है और साथ ही प्रत्येक समय अपने सहायकोंके साथ सद्धर्मका पालन और विस्तार करनेके लिये कुछ आधिकारिक पुरुष नियुक्त रहते हैं। अतः किसी भी समय धर्मपालन की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है, यह सूचित करनेके लिये मन्वन्तरका वर्णन आना है। कितने वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है? मनुष्य-वर्षोंके हिसाबसे ४३,२०,००० वर्षोंकी एक चतुर्युगी होती है। इकहत्तर चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है। चौदह मन्वन्तरका एक कल्प होता है। यह कल्प ब्रह्माका एक दिन है। इतनी ही बड़ी उनकी एक रात्रि होती है। इस हिसाबसे जब ब्रह्मा सौ वर्षके हो जाते हैं, तब उनकी आयु पूरी हो जाती है। ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु बदल जाते हैं, इस श्वेतवाराहकल्पमें स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष नामके छः मनु व्यतीत हो चुके हैं; सातवें वैवस्वत मनु वर्तमान हैं। आगे सात मनु और होनेवाले हैं; उनके नाम हैं— सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। प्रत्येक मनुके समयमें विशेष-विशेष देवता, उनके पुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान्के अवतार हुआ करते हैं। इन सबका वर्णन श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर आता है। वैवस्वत मन्वन्तरमें भगवान्का वामनावतार मन्वन्तरावतार है। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज सप्तर्षि हैं। आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और ऋभुगण देवता हैं। पुरन्दर नामके इन्द्र हैं।

वैवस्वत मनुके दस पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् प्रत्येक मनु अपने शासनकालमें सद्धर्मकी रक्षा और प्रचार करते हैं और इनके पुत्र, ऋषि, देवता आदि स्थान-स्थानपर गुप्तरूपसे रहकर धार्मिकोंकी सहायता करते हैं, अधिकारी पुरुषोंके सामने प्रकट होते हैं और उनके उद्धारका साधन भी बतलाते हैं। इसीसे श्रीमद्भागवतमें मन्वन्तरकी व्याख्या 'सद्धर्म' शब्दसे की गयी है।

समयकी गणना करनेकी इस महान् पद्धतिको देखकर बहुत-से लोग चकरा जाते हैं और वे ऐसा मान बैठते हैं कि इतना समय हुआ नहीं है; परन्तु समयके सम्बन्धमें इतनी विशाल कल्पना कर ली गयी है। उन्हें समझना चाहिये कि मन्वन्तरोंकी गणनाके अनुसार इस कल्पकी पृथ्वीकी जितनी आयु है, उतनी ही आयु वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे भी है। इस कल्पके चौदह मन्वन्तरोंमेंसे सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है, जो कि पृथ्वीकी तहों और परतोंकी जाँचसे भी ठीक सिद्ध होता है। भारतीय शास्त्रोंकी परम्परा जबसे प्राप्त होती है, तबसे मन्वन्तरकी गणनाका यही क्रम है। ब्रह्माके एक दिनका जो हिसाब गीतामें लिखा हुआ है वही हिसाब और वही श्लोक शाकल्यसंहिता, निरुक्त, महाभारत, समस्त पुराण और ज्योतिषके ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। मनुका जैसा चरित्र भारतीय ग्रन्थोंमें वर्णित हुआ है, दूसरे देशोंमें वैसे ही चरित्रवाले दूसरे व्यक्तियोंका वर्णन मिलता है। जैसे वैवस्वत मनु प्रलयके समय वनस्पतियोंके समस्त बीज और सप्तर्षियोंको लेकर एक नावपर बैठ जाते हैं (देखिये अष्टम स्कन्धके अन्तिम दो अध्याय) और वह नाव

हिमालयकी चोटीसे बाँध दी जाती है। शतपथब्राह्मणमें इसका वर्णन मिलता है। बाइबिलमें भी ठीक वैसी ही कथाका उल्लेख है। नोआ नामके एक व्यक्ति प्रलयके समय पृथ्वीके समस्त बीजोंको लेकर नावपर सवार हो जाते हैं और उनकी नाव पहाड़की चोटीसे बाँध दी जाती है। प्रलयका जल घट जानेपर फिर उन्हींके द्वारा सृष्टि होती है और वे बहुत दिनोंतक जीवित रहते हैं। न केवल बाइबिलमें, विभिन्न जातियोंके अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें भी इस प्रकारकी कथाएँ प्राप्त होती हैं।

ईशानुकथा

एक मन्वन्तरके बाद दूसरा मन्वन्तर और एक कल्पके बाद दूसरा कल्प, इस प्रकार सृष्टिकी परम्परा चलती रहती है। सृष्टिके बाद प्रलय और प्रलयके बाद सृष्टि, यह क्रम अनादिकालसे चल रहा है और प्रवाहरूपसे नित्य है। यदि जीव भगवान्का आश्रय लेकर इस प्रवाह-परम्परासे ऊपर न उठ जाय, तो उसे भटकते ही रहना पड़ेगा। इसीसे श्रीमद्भागवतमें ईशानुकथाका वर्णन आता है। भगवान् और भगवान्के भक्तोंके अनेक आख्यानोंसे युक्त चरित्रको 'ईशानुकथा' कहते हैं। हिन्दू-धर्मग्रन्थोंमें यह बात एक स्वरसे स्वीकार की गयी है कि जगत्की रक्षा करनेके लिये स्वयं भगवान् समय-समयपर अवतार ग्रहण किया करते हैं। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें कुन्तीकी स्तुतिमें और दशम स्कन्धकी गर्भस्तुतिमें भगवान्के अवतारके अनेकों कारण और उनके समर्थनमें अनेकों युक्तियाँ दी गयी हैं। श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर अवतारोंकी सूची, उनके चरित्र और महिमाका वर्णन किया गया है। यह बात सर्वथा

बुद्धिग्राह्य जान पड़ती है कि अपने भक्तोंके आग्रहसे परमदयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्मा अवतार ग्रहण करे और ऐसी लीला करे जिसको गाकर, स्मरण करके संसारके नाना प्रपञ्चोंमें उलझे हुए जीव मुक्तिका मार्ग प्राप्त कर सकें। अवतारके अनेकों भेद बतलाये गये हैं—जैसे अंशावतार, गुणावतार, व्यूहावतार, अर्चावतार, आवेशावतार, स्फूर्ति-अवतार आदि। इनमें श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्, अवतारी पुरुष हैं। इनके चरित्रश्रवणसे किस प्रकार अन्तःकरण शुद्ध होता है; ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी किस प्रकार प्राप्ति होती है—इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके प्रायः सभी स्कन्धोंमें है।

जो प्रेमी भक्त अपने सम्पूर्ण हृदयसे भगवान्का चिन्तन करते हैं उनका हृदय, जीवन और प्रत्येक क्रिया भगवन्मय हो जाती है; उनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु भगवान्का स्मरण करानेवाली होती है। इसीसे नारद-भक्तिसूत्रमें कहा गया है, 'भगवान् और भगवान्के भक्तमें भेद नहीं होता; क्योंकि वे तन्मय होते हैं।' योगदर्शनमें चित्तनिरोध करनेके लिये राग-द्वेषरहित पुरुषोंके ध्यानका विधान है। महापुरुषोंके चरित्रसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि संसारमें रहकर किस प्रकार संसारसे ऊपर उठना चाहिये और भगवान्को प्राप्त करना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि भक्तोंके चरित्रका वर्णन हुआ है।

अवतार भगवान् और उनके नित्य पार्षद दोनोंके ही होते हैं। सर्वव्यापक, निराकार एकरस परमात्माके लिये कोई ऐसा स्थान

नहीं, जहाँ वह पहलेसे ही विद्यमान न हो। इसलिये 'अवतार' शब्दका यह अर्थ नहीं है कि परमात्मा कहीं-से-कहीं आता-जाता है अथवा ऊपरसे नीचे उतरता है। यह तो एक विनोदकी भाषा है। 'अवतार' शब्दका अर्थ है—अव्यक्त रूपसे विराजमान परमात्माका व्यक्त हो जाना, यहीं छिपे हुए परमात्माका प्रकट हो जाना। जगत्में जो कुछ है और जो कुछ जगत् है, वह परमात्माका ही रूप है; इसलिये परमात्मा व्यक्त होनेपर भी अव्यक्त है और प्रकट होनेपर भी गुप्त है। जब जगत्के जीव इस रूपमें परमात्माको न पहचान कर अत्याचार-अनाचार आदि करने लगते हैं, तब जगत्की सुव्यवस्था करनेके लिये एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होती है और उस शक्तिके रूपमें स्वयं परमात्मा ही अवतीर्ण होते हैं।

यह जगत् परमात्माकी शक्ति-विशेषका ही प्रकाशमात्र है। शास्त्रोंके अनुसार परमात्मामें सोलह कलाएँ हैं। उनमेंसे एक कलाका प्रकाश उद्भिज्ज योनिमें है, वे अन्नमयकोषप्रधान हैं। दो कलाओंका प्रकाश स्वेदज योनिमें है, वे प्राणमयकोषप्रधान हैं। तीन कलाओंका प्रकाश अण्डज योनिमें है, वे मनोमयकोषप्रधान हैं। चार कलाओंका प्रकाश जरायुज पशुओंमें है, वे विज्ञानमयकोषप्रधान हैं। पाँच कलाओंका प्रकाश जरायुज मनुष्योंमें है, वे आनन्दमयकोषप्रधान हैं। छः से आठ कलाओंतकका प्रकाश उन महात्माओंमें होता है, जो कोषसम्बन्धी संवेदनोंसे ऊपर उठे हुए हैं। मानव-शरीरमें आठ कलाओंसे अधिक शक्ति धारण करनेकी क्षमता नहीं है। इससे अधिक शक्तिकी स्फूर्ति जहाँ होती है, वहाँ शरीर भी दिव्य उपादानोंसे ही बनता है और उसका नाम अवतार होता है। नौ से पंद्रह कलातकका

प्रकाश अंशावतारके नामसे अभिहित होता है और सोलह कलाका अवतार पूर्णावतार कहा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं। भगवान्की दयालुता और सर्वशक्तिमत्ताको दृष्टिमें रखते हुए यही बात युक्तियुक्त जँचती है कि भगवान् अपने भक्तोंकी रक्षा और आवश्यकतापूर्तिके लिये अवश्य ही अवतार धारण करते हैं।

ऋक्संहिता (१।२२।१७) में वामनावतारका स्पष्ट वर्णन मिलता है—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' इत्यादि। इसके बादवाले मन्त्रमें भी 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः' का उल्लेख है। शतपथब्राह्मणमें इसकी पूरी आख्यायिका ही दी गयी है। वहाँ लिखा है—'देवता और दैत्योंने आपसमें विवाद किया और दैत्योंने सारी पृथ्वीपर अधिकार जमा लिया। जब वे आपसमें बाँटने लगे, तब देवता भी वामन विष्णुको आगे करके गये और बोले—'हमें भी पृथ्वीका हिस्सा दो।' दैत्योंने विष्णुको वामन देखकर उनकी हँसी उड़ाते हुए कहा—'ये विष्णु जितनी दूरमें सो जायँ, उतनी पृथ्वी हम तुम्हें देंगे।' इसके बाद देवताओंने विष्णुको वेदमन्त्रोंसे सुरक्षित किया और विष्णुके द्वारा समस्त पृथ्वीपर अधिकार कर लिया।' (शतपथब्राह्मण १।२।५।७)

तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।१) और शतपथब्राह्मण (७।३।३५) में कूर्मावतारका वर्णन है। शतपथब्राह्मण (१।८१।२१०) में मत्स्यावतारका वर्णन है। तैत्तिरीय संहिता (७।१।५।१), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।३।५) और शतपथब्राह्मणमें भी वराह-आवतारका सुन्दर वर्णन है। ऐतरेय

ब्राह्मणमें परशुरामावतारकी, छान्दोग्योपनिषद् (३।१७) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१६) में देवकीनन्दन वासुदेव श्रीकृष्णकी कथा है। इन अवतारोंके अतिरिक्त विष्णु, रुद्र, सूर्य, शक्ति आदि देवताओंका भी वेदोंमें बहुत ही विस्तृत वर्णन है। जो लोग वेदोंमें अवतार और देवताओंका वर्णन स्वीकार नहीं करते, वे अनभिज्ञता और पक्षपातके कारण ही वैसा करते हैं। महाभारत और वाल्मीकीय रामायणमें भी अवतारोंके पुष्कल प्रसङ्ग हैं। हिंदू शास्त्रोंको मान्यता देकर किसी भी प्रकार अवतारोंका अपलाप नहीं किया जा सकता। जैन और बौद्धधर्मके ग्रन्थोंमें भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव और अवतारोंके उपासकोंका वर्णन आता है। ईसाके तीन सौ वर्ष पूर्व रचित 'ललित-विस्तर' में तथा उससे भी पूर्व रचित पाली भाषाके ग्रन्थोंमें इन साम्प्रदायिक उपासकोंकी चर्चा है। महात्मा बुद्ध और पारसनाथसे भी इनकी भेंट हुई है। आनाम और कंबोडियासे जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे भी सिद्ध होता है कि ईसासे बहुत पूर्व उन उपद्वीपोंमें ब्रह्मा, शिव आदिकी उपासना पूर्णरूपसे प्रचलित थी।

इन अवतारोंके द्वारा क्या-क्या शिक्षा प्राप्त होती है, यह विवेचन करनेका अवसर नहीं है। एक-एक अवतारके नामसे जिन पुराणोंकी रचना हुई है, उनमें उस शिक्षाका विशेष विवरण है। मत्स्य पुराणमें मत्स्यभगवान्ने वैवस्वत मनुको, कूर्मपुराणमें कूर्मभगवान्ने देवताओंको, वराहपुराणमें वराहभगवान्ने पृथ्वीको, नृसिंहपुराणमें नृसिंहभगवान्ने प्रह्लादको, वामनपुराणमें वामनभगवान्ने बलिको और इसी प्रकार अन्यान्य अवतारोंमें भी भगवान्ने अपने विभिन्न भक्तोंको उपदेश किया है। इन योनियोंमें, जिन्हें निम्न कहा जाता है, अवतार ग्रहण

करके भगवान्‌ने इस बातकी शिक्षा दी है कि 'किसी भी योनिको हीन नहीं समझना चाहिये, मेरे लिये सब समान हैं।' जल, स्थल और आकाशमें रहनेवाले सभी प्राणी भगवान्‌के सजातीय और उनकी अभिव्यक्तिके स्थान हैं, ऐसा समझकर प्रत्येक प्राणीका आदर-सन्मान करना चाहिये और सबके रूपमें परमात्माका दर्शन करके आश्रयस्वरूप भगवान्‌की दयाका स्मरण करके मुग्ध होते रहना चाहिये।

निरोध

परमात्माके अतिरिक्त जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् दीख रहा है, उसकी अन्तिम गति प्रलय है। अवतार ले-लेकर भगवान् उसकी विपरीत गतिका निरोध तो करते ही रहते हैं; परन्तु जब तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तब भगवान् नवीन रूपसे सात्त्विक सृष्टि करनेके लिये इस जगत्‌का प्रलय कर दिया करते हैं। भगवान् अवतार ग्रहण करके दुष्ट दैत्योंका नाश करते हैं; कंस आदिको साक्षात् और कर्ण, जरासन्ध आदिको अपनी शक्ति अर्जुन, भीम आदिके द्वारा नष्ट करते हैं। इसका नाम भी निरोध है। श्रीमद्भागवतमें निरोध और संस्थाके नामसे प्रलयका भी वर्णन हुआ है। उसका लक्षण किया गया है कि परमात्मा जब अपनी शक्तियोंके साथ सो जाता है, तब सारे जगत्‌का निरोध अर्थात् प्रलय हो जाता है।

प्रलय चार प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक प्राकृत और आत्यन्तिक प्रलय। नित्य प्रलयके दो अर्थ हैं—एक तो जगत्‌में जो निरन्तर क्षय हो रहा है, उसका नाम नित्य प्रलय है और दूसरा निद्राके समय जब सारी सृष्टि अज्ञानमें विलीन हो जाती

है, किसी भी विशेष भावका अनुभव नहीं होता, उसको नित्य प्रलय कहते हैं। नैमित्तिक प्रलय भी दो प्रकारका होता है—एक आंशिक और दूसरा पूर्ण नैमित्तिक प्रलय। एक मन्वन्तर समाप्त होनेपर अथवा कभी-कभी भगवान्की इच्छासे मन्वन्तरके बीचमें ही जब समस्त पृथ्वी जलमग्न हो जाती है और भुवर्लोक, स्वर्लोक आदि भी विच्छिन्न हो जाते हैं, परन्तु महर्लोक आदि ज्यों-के-त्यों रहते हैं, तब आंशिक प्रलय होता है और जब एक कल्पके अन्तमें ब्रह्माका दिन पूरा होनेपर वे अपनी की हुई सृष्टिको लेकर घोर निद्रामें सो जाते हैं, तब पूर्ण नैमित्तिक प्रलय होता है। प्राकृत प्रलय उसको कहते हैं, जिसमें ब्रह्माकी आयु (उनके मानसे सौ वर्ष) पूरी हो जाती है और यह ब्रह्माण्ड सर्वथा प्रकृतिमें विलीन हो जाता है। आत्यन्तिक प्रलयका कोई समय नहीं है। साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अन्तरङ्ग साधन करके जीव जब अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करता है, तब इस संसारका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। इन सब प्रलयोंका वर्णन श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धमें विशदरूपसे हुआ है। इन सब विविध प्रकारके प्रलयोंके चिन्तनसे जगत्के नाना नाम और रूपोंका अभाव ध्यानमें आ जाता है, फिर भाव और अभाव दोनोंके आश्रयस्वरूप भगवान्की उपलब्धि हो जाती है।

प्रायः सभी पुराणोंमें प्रलयका वर्णन हुआ है और उनमें स्थूल दृष्टिसे कुछ थोड़ा-थोड़ा भेद भी प्रतीत होता है; परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर सबकी एकता सिद्ध हो जाती है। दर्शनोंमें भी प्रलयका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। प्राचीन नैयायिकोंने खण्डप्रलय

और महाप्रलय दो प्रकारके प्रलय माने हैं। वे जन्यद्रव्यके अधिकरणमात्रके अभावको महाप्रलय कहते हैं। नव्य नैयायिकोंने केवल खण्डप्रलयका ही अस्तित्व स्वीकार किया है। उनके मतमें जन्यभावके अधिकरणका अभाव सम्भव नहीं है। सांख्यवादी प्रकृतिमें दो प्रकारके परिणाम मानते हैं—एक स्वरूपपरिणाम और दूसरा विरूपपरिणाम। सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण जब स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं—सत्त्व सत्त्वमें, रज रजमें, तम तममें—तब प्रलय हो जाता है; और जब वे विकृत होते हैं, उनमें वैषम्य होता है, तब विरूपपरिणामके कारण सृष्टि होती है। इन मतवादोंके अनुसार यद्यपि सृष्टि और प्रलयका ठीक-ठीक समय निर्णय नहीं किया जा सकता, तथापि ये प्रलयका अस्तित्व स्वीकार करते हैं—इसमें कोई मतभेद नहीं है। इन्होंने केवल भौतिक दृष्टिसे ही जगत्के सृष्टि-प्रलयपर विचार किया है। जब इस स्थूल जगत्से तटस्थ होकर आध्यात्मिक और आधिदैविक दृष्टिसे विचार करते हैं, तब भौतिक जगत्की पोल खुल जाती है और इसकी एक-एक क्रिया और प्रतिक्रियाका पता चल जाता है। इसीसे प्रकृति और परमाणुके आधारपर विचार करनेवाले वैज्ञानिकों और दर्शनिकोंको प्रलय होगा इतना तो मालूम हो जाता है, परन्तु कब होगा—यह ठीक-ठीक मालूम नहीं होता। पौराणिकोंकी योगदृष्टिसे प्रतिक्षण होनेवाला नित्यप्रलय और आगे होनेवाले प्रलय एवं महाप्रलय ओझल नहीं रहते। इसलिये वे उनके निश्चित समयका निर्देश करते हैं।

मुक्ति

आत्यन्तिक प्रलयका अर्थ है—मुक्ति। जैसे प्रलय और महाप्रलय प्रकृतिमें स्वभावसे ही होते रहते हैं, वैसे आत्यन्तिक प्रलय नहीं होता। यह भगवत्तत्त्वज्ञानसे अभिन्न भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर अथवा भगवत्प्रेमसे अभिन्न भगवत्तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर ही मिल सकता है। भगवान् विज्ञानानन्दघन हैं। उनके प्राप्त होनेपर ही जीवके पुरुषार्थकी समाप्ति होती है। सभी जीव एक साथ मुक्त नहीं हो सकते, परन्तु मुक्त होनेमें समयका व्यवधान भी नहीं है। जो जिस देशमें है, जिस अवस्थामें है, जिस समयमें है, जिस रूपमें है वह वहीं, वैसे ही सदाके लिये संसारसे मुक्त हो सकता है। उसके लिये संसारका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है और उसे फिर पुनर्जन्मके चक्रमें नहीं भटकना पड़ता। वेदान्तकी दृष्टिसे मुक्ति केवल एक प्रकारकी है—कैवल्य-मुक्ति। इसके प्राप्त होनेका उपाय है—अनेक प्रकारके नाम और रूपोंको उत्पन्न करके उनकी कामनासे भटकानेवाली अविद्याका नाश। कैवल्य-मुक्ति केवल अविद्याके नाशसे ही प्राप्त होती है। अथवा अविद्याका नाश ही मुक्ति है। अविद्याका नाश होता है परा विद्या अथवा परम ज्ञानसे; ज्ञानका उदय होता है अन्तःकरणकी शुद्धिसे; अन्तःकरणकी शुद्धि निष्कामकर्म, उपासना आदिसे प्राप्त होती है। ज्ञानका उदय चाहे भगवत्कृपासे हो, चाहे श्रवण-मननादि अन्तरङ्ग साधनोंके अनुष्ठानसे, कैवल्य-मुक्तिके लिये ज्ञान सम्पादन करना ही पड़ेगा। श्रीमद्भागवतमें मुक्तिका लक्षण है—'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।' अपने 'अज्ञानकल्पित असत्य

रूपको छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थिति ही मुक्ति है।' इस लक्षणका निर्वाह कैवल्यमुक्तिमें ठीक-ठीक हो जाता है।

जगत्में 'यह मैं हूँ' और 'यह भिन्न है'—इस प्रकारका व्यवहार अनादि कालसे चल रहा है; परन्तु 'मैं' क्या है, इसका यथार्थ बोध बहुत ही थोड़े लोगोंको होता है। अधिकांश लोग 'यह' (बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि) को ही 'मैं' समझते हैं और उसी समझ अथवा अज्ञानके अनुसार अपनेको मूर्ख, बुद्धिमान्, सुखी-दुःखी और छोटा-बड़ा मानते हैं। इसी भ्रान्तिके कारण वे सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरके साथ बँधे रहते हैं और उनकी समस्त वासनाएँ इन्हींको लेकर होती हैं। उनका प्रलय होता है, तब वे अपना प्रलय मानने लगते हैं और जब उनकी सृष्टि होने लगती है, तब अपनी सृष्टि। इसी भ्रान्तिके कारण वे अनादि कालसे भटक रहे हैं और जबतक इस 'यह' अर्थात् इदं-पदवाच्य अन्यथारूपको छोड़ेंगे नहीं—इससे अत्यन्त पृथक् स्थित अपने वास्तविक स्वरूप आत्मामें स्थित नहीं होंगे, तबतक भटकते रहेंगे। यह बड़ी विलक्षण बात है कि जब 'यह' से 'मैं' को पृथक् कर लिया जाता है और उसके वास्तविक स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है, तब 'यह' के लिये स्थान नहीं रहता अर्थात् संसारका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। इसीका नाम कैवल्यमुक्ति है। यह कैवल्यमुक्ति किसी भी शारीरिक या मानसिक क्रियाका फल नहीं है; यह उनसे उत्पन्न विकृत, संस्कृत, प्राप्त और नष्ट नहीं की जा सकती। यह वास्तवमें नित्य प्राप्त है, इसलिये नित्य प्राप्तिके ज्ञानमात्रसे मुक्ति सिद्ध हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें पाँच प्रकारकी मुक्ति स्वीकार की गयी है। उनके नाम ये हैं--सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान्‌के नित्य चिन्मय धाममें रहना सालोक्य मुक्ति है, भगवान्‌के समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना सार्ष्टि मुक्ति है, भगवान्‌के समीप रहना सामीप्य मुक्ति है, भगवान्‌के समान रूप प्राप्त कर लेना सारूप्य मुक्ति है और भगवान्‌में मिल जाना, उनके चरणोंमें समा जाना सायुज्य मुक्ति है। श्रीमद्भागवतमें इन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंके अनेकों उदाहरण हैं। भगवान्‌से जिसका सम्बन्ध हो गया, चाहे किसी भी भावसे क्यों न हुआ हो, उसको कोई-न-कोई मुक्ति प्राप्त हो ही जाती है। परन्तु जो भगवान्‌के सच्चे और ऊँचे प्रेमी होते हैं, वे इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे कोई नहीं चाहते; वे केवल भगवान्‌की सेवा करना चाहते हैं। यहाँतक कि भगवान् उन्हें मुक्ति देते हैं, तब भी वे उसे स्वीकार नहीं करते। मुक्तिसे भी ऊँचा भगवान्‌का प्रेम है, यह बात श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थानोंमें कही गयी है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें प्रमाण, प्रमेयादि षोडश द्रव्य अथवा सप्त पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे एकविंशति प्रकारके दुःखोंका ध्वंस होकर मुक्ति सिद्ध होती है—ऐसा स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शनमें प्रकृति और पुरुषके विवेकसे पुरुषका अपने असङ्ग रूपमें स्थित हो जाना ही मुक्ति है, ऐसा कहा गया है। योगदर्शनमें विवेकके साथ ही मुक्तिके लिये समाधिकी आवश्यकता स्वीकृत हुई है। भक्तिदर्शनोंमें भगवत्कृपाको ही मुक्तिका हेतु माना गया है। पूर्वमीमांसादर्शन स्वर्गके अतिरिक्त और किसी प्रकारकी मुक्ति स्वीकार

नहीं करता। वेदान्तदर्शनकी व्याख्या भक्ति और ज्ञान दोनोंके ही पक्षमें हुई है; परन्तु कैवल्य-मुक्तिके सम्बन्धमें दोनोंका ही यह निश्चित मत है कि वह तत्त्वज्ञानसे ही प्राप्त होती है, चाहे तत्त्वज्ञान भगवत्कृपासे प्राप्त हो अथवा श्रवण आदि साधनोंसे।

मुक्तिके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत एक विशेषता रखता है। इसमें पूर्वमीमांसाके मतके अतिरिक्त और सब दर्शनोंके सिद्धान्त एवं साधनोंका निर्देश हुआ है। उन सबका सामञ्जस्य भी है, समन्वय भी है और उसके परे भी एक स्थिति बतलायी गयी है। साधकको इस विचारमें नहीं पड़ना चाहिये कि कौन-सी मुक्ति वाञ्छनीय है। इस झगड़ेमें भी नहीं पड़ना चाहिये कि मुक्तिका क्या स्वरूप है। उसे तो केवल अपना साधन करते ही जाना चाहिये। सर्वश्रेष्ठ मुक्तिका यही स्वरूप है कि कुछ चाहा न जाय, कोई कामना न रहे—'नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्'—परम निरपेक्षता ही सर्वश्रेष्ठ निःश्रेयस है। जो मुक्ति चाहता है, उसकी मुक्तिमें उसका चाहना ही आवरण है; उस चाहनाको छोड़ देनेपर मुक्ति स्वतःसिद्ध है। यही मुक्ति वास्तविक मुक्ति है।

सर्गसे लेकर प्रलयपर्यन्त संसारका विस्तार है। उसके बीचमें अनेकों प्रकारके बाधक और साधक कर्म हैं, समय है, देश है और वस्तु है; इनके भाव और अभाव भी उसीमें सम्मिलित हैं। इनकी विरोधिनी मुक्ति है। परन्तु चाहे करने ही भरकी क्यों न हो, मुक्ति उनकी विरोधिनी है सही। बन्धन और मुक्ति, ये द्वन्द्व न होनेपर भी एक द्वन्द्व हैं; इनके आश्रय हैं साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण;

उन्हें चाहे ब्रह्म कहिये चाहे परमात्मा। इसी दशम तत्त्वका निरूपण करनेके लिये उपर्युक्त सर्ग, विसर्ग आदिका लक्षण किया गया है।

प्रतिपाद्य तत्त्व

दूसरे पुराणोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतकी यह महान् विशेषता हैं कि इसके प्रतिपाद्य आश्रयस्वरूप परमात्मा या भगवान् ही हैं। कोषोक्त लक्षणके अनुसार पुराणके जो सर्ग, विसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—पाँच लक्षण हैं वे केवल उन्हीं पुराणोंपर लागू होते हैं जिनके प्रतिपाद्य वे ही पाँच विषय हैं। श्रीमद्भागवतमें पाँच या दस विषयोंका प्रतिपादन नहीं, वे तो लक्षणमात्र हैं; केवल एकमात्र आश्रयस्वरूप भगवान्का ही प्रतिपादन है। भगवान्के साथ श्रीमद्भागवत ग्रन्थका प्रतिपादक-प्रतिपाद्यभाव-सम्बन्ध है। श्रीमद्भागवतके प्रत्येक पदके प्रतिपाद्य परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

★

मोर-मुकुट

स्वप्न और जाग्रत्‌की प्रशान्त सन्धिमें वांसुरीकी स्वरलहरी के साथ ठुमुक-ठुमुककर पादविन्यास करते हुए उन्होंने प्रवेश किया। स्थितिमें गति, एकतामें अनेकता एवं शान्तिमें एक मधुर कान्तिका सञ्चार हो गया। वह अनन्त शान्ति, वह रहस्यरस और वह एकरस ज्ञानका अनन्त पारावार न जाने कहाँ अन्तर्हित--दृष्टिके एकान्तमें विलीन हो गया? न जाने कहाँ? नहीं, नहीं, यह तो भूल थी। वह प्रत्यक्ष आँखोंके सामने अमूर्तसे मूर्त होकर, निराकारसे साकार होकर और निर्गुणसे अनन्त दिव्यगुणसम्पन्न होकर अपनी रसभरी चितवनसे मुझे अपने साथ रमण करने-खेलनेका प्रणयाह्वान करने लगा।

अब मैंने देखा। हमारी चार आँखें हुईं, परन्तु यह क्या? एक क्षण में ही मेरी आँखें लज्जासे अवनत क्यों हो गयीं? बात ऐसी ही थी। मैं अपराधी था। सचमुच जब प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करने योग्य वस्तुके भेदसे रहित उस विचित्र वस्तुकी प्राप्ति इस प्रकार स्वयं ही हो गयी, तब मैं चकित-सा रह गया। सहसा विश्वास न कर सका। एक हलकी-सी अवहेलना हो ही गयी। परन्तु दूसरे ही क्षण सँभल गया। ऐसा सँभला, ऐसा सँभला, मानो ज्ञानवान् होनेके पश्चात् 'वासुदेवः सर्वमिति' की ही तत्त्वतः अनुभूति हो गयी हो। एक महान् प्रकाश फैल गया और मानो उसने कहा भी--'अब उनके साथ रमण होगा। अब तक आनन्दका उपभोग

तुम कर रहे थे, भले ही वह भोक्तृत्वहीन रहा हो। परन्तु अब ? अब तो तुम्हारा उपभोग होगा। अब रासक्रीड़ा होगी।' मैंने भाष्य कर लिया—'वास्तवमें प्रेम या आनन्द भोग अथवा भोक्तृत्वहीन भोग (मोक्ष) में नहीं है, वह तो उनका भोग्य हो जानेमें ही है। इसीको तो प्रेमभक्ति कहते हैं।'

उस प्रकाशमें मैंने क्या देखा ? हाँ, अवश्य कुछ देखा तो था। वही मेरे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हुए ठुमुक रहे थे। चरणोंकी किंकिणी 'रुनझुन' की उल्लासपूर्ण ध्वनिसे चिदाकाशको मुखरित कर रही थी। पीताम्बर फहरा रहा था, परन्तु उसका मुँह पीछेकी ओर था। सुन्दर अलकावलीसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी, परन्तु उनमेंसे एक भी मेरी ओर नहीं आ रहा था। ऐसा क्यों ? वे स्वयं मेरी ओर आ रहे थे। मैंने विस्मित होकर एक बार उस अनूपरूपराशिको सर्वांग देखना चाहा, परन्तु देख न सका। बीचमें ही मुसकराकर उन्होंने आँखोंको विवश कर दिया। वे एकटक वहीं लग गयीं। न आगे बढ़ीं न पीछे हटीं। न चढ़ीं और न उतरीं। न जाने कितना समय बीत गया। गजबकी मुस्कराहट थी ! अजब जादू था !!

अब मुझे ध्यान आया। भगवान् स्वयं मेरे सामने खड़े-खड़े मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। अरे ! अब तक मैंने कुछ स्वागत-सत्कार नहीं किया ? अर्घ्य पाद्य तक न दिया ! हाँ, हुआ तो ऐसा ही। परन्तु यह क्या ? उन्होंने स्वयं अपने हाथों स्वागत-सत्कारका आयोजन कर लिया है ! ऐसा ही जान पड़ता है। प्रकृतिके आत्यन्तिक लयके पश्चात् यह नूतन प्रकृति कहाँसे आयी ? हां, हां, यही इनकी दिव्य

प्रकृति है। यह चिन्मय है, इनकी लीलाकी सहकारिणी है। हां, इसमें तो सजीव स्फूर्ति है, नवीन ही जागृति है और भरा हुआ है दिव्यजीवन। इसका स्वागत भी अपूर्व है।

अब मैंने उस ओर दृष्टि डाली। हां, तो पैरोंके तले हरे-हरे दिव्य दूर्वादलके कालीन बिछे हुए हैं। तारामण्डित गगनका बड़ा-सा वितान तना हुआ है। सफेद चांदनीकी ठंडी और उजली रोशनीसे पत्ते-पत्तेमें जगमग ज्योति झिलमिला रही है। अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर हवा पंखा झल रही है। वृक्षोंने अपने रसभरे फलोंसे झुकी हुई कलियाँ सामने कर दी हैं। परन्तु वे, वे तो बस पूर्ववत् बांसुरीके रसीले रन्ध्रोंसे राग-अनुरागके समुद्र उँड़ेलनेमें लगे हैं। मैं चकित होकर केवल देख रहा था।

मैंने स्तुति करनेकी ठानी। परन्तु मेरे 'ठानने' का क्या महत्त्व? भ्रमरोंने अपनी गुंजारको उनके वेणुनादसे मिलाकर गुनगुनाना प्रारम्भ किया। कोयलोंने अपने 'कुहू कुहू' की मञ्जुल ध्वनि निछावर कर दी। थोड़े-से सांवले-सांवले बादलोंने तबलोंकी तरह मन्द-मन्द ताल भरनेकी चेष्टा की, परन्तु दो-चार क्षणमें ही वे कुछ नन्हीं-नन्हीं सफेद बूँदोंके रूपमें 'रस' बनकर चरण पखारने आ गये। अब तक झुंड-के-झुंड मयूर आकर थिरकने लगे थे।

अब वे घिर गये। चारों ओर मयूरोंका दल अपने पिच्छ फैलाकर नाच रहा था। और बीचमें श्यामसुन्दर अबाध गतिसे पैंजनीसे स्वरसाम्य रखते हुए बांसुरी बजानेमें तल्लीन थे। मैं अनुभव कर रहा था उनके लाल-लाल अधरोंसे निकलकर अणु-अणु परमाणु-

परमाणुमें मस्ती भर देनेवाले मोहन-मन्त्रका ! हां, तो सब मुग्ध थे, सब-के-सब उस अनुरागभरे रागकी धारामें बह गये थे। किसीको तनबदनकी सुध नहीं थी। सुध रखनेवाला मन ही नहीं था। हां, वे, बस वे, सबकी ओर देखते हुए भी मुझे ही देख रहे थे। बिना जतनके ही मेरे रोम-रोमसे वही वेणुके आरोह-अवरोह क्रमसे मूर्च्छित स्वरलहरी प्रवाहित हो रही थी। शरीर, प्राण, हृदय और आत्मा सब-के-सब उस रागके अनुरागमें रंगकर किसी अनिर्वचनीय रसमें डूब गये थे। सबकी आँखें मोहनके मुखकमलपर निर्निमेष लग रही थीं। बहुत समय बीत गया होगा। परन्तु वहाँ समय था ही कहाँ ?

अच्छा, यकायक मुरलीध्वनि बन्द हो गयी। एँ, ऐसा क्यों हुआ ? परन्तु हुआ ऐसा ही। जबतक सबकी आँखें खुलें, होश सँभले, तबतक उन्होंने झपटकर एक मयूरके गिरे हुए पिच्छको अपने करकमलोंसे उठाकर सिरपर लगा लिया, सबकी आँखोंमें आँसू आ गये, सभीका हृदय पिघल गया। सबके हृदयने एक स्वरसे कहा—

'प्रियतम ! तुम्हारा प्रेम अनन्त है। तुम्हारी रसिकता अनिर्वचनीय हैं। आजसे तुम मोर-मुकुट-धारी हुए।' उन्होंने मुस्कराकर आँखोंके इशारेसे स्वीकृति दी।

उसी समय उनके पास कई ग्वालबाल आते हुए दीख पड़े और वे उनमें मिलकर खेलते–कूदते दूसरी ओर निकल गये।

अब मुझे मालूम हुआ कि वास्तवमें यह जाग्रत्-स्वप्नकी सन्धि वृन्दावन है और इसमें वे लीला करते हैं।

क्या महाभारतके श्रीकृष्ण दूसरे हैं ?

श्रीमद्भागवतमें इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गयी है कि 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्।' अर्थात् दूसरे अवतार अंशावतार एवं कलावतार हैं, परन्तु श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् भगवान् हैं। तात्पर्य यह है कि और जितने अवतार होते हैं, वे भगवान्के अंशमात्र या कलामात्र होते हैं; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परिपूर्णतम हैं। चाहे जिस दृष्टिसे विचार किया जाय, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ही सिद्ध होंगे; क्योंकि वे वास्तवमें पूर्ण हैं। पूर्णताका अर्थ क्या है, किन उपपत्तियोंसे पूर्णताका निश्चय करना चाहिये, यह विचारणीय प्रश्न है। जगत्में जितनी वस्तुएँ हैं, उनकी एक सीमा निर्धारित है। जिसका अंश हो सकता है, उसकी सीमाका भी अनुमान लगाया जा सकता है। एक कण हमें प्राप्त है, यह कण किसी विशेष वस्तुका करोड़वाँ हिस्सा है। अब वह वस्तु कितनी बड़ी है यह जानना हो तो इस कणको करोड़गुना कर सकते हैं; यही उस वस्तुका परिमाण है। परन्तु जो वस्तु अनन्त है, उसका न तो कोई अंश होता है और न कोई परिमाण ही। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं, उनकी सत्ता अनन्त है, उनका ज्ञान अनन्त है, उनका आनन्द अनन्त है, वे परिपूर्ण एकरस सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। जगत्के समस्त ज्ञान, सत्ता और आनन्दका परिच्छेद है; परन्तु उनकी सत्ता, ज्ञान और आनन्दका परिच्छेद नहीं है। वे पूर्ण हैं।

जगत्के सभी पदार्थ शक्ति, क्रिया आदिके सम्बन्धसे एक-एक विशेषता रखते हैं। उन सब विशेषताओंको यदि एकत्र कर लिया जाय, तो वह विशेषताका एक समुद्र बन जायगा। वह विशेषताओंका समुद्र अपने आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके सामने एक विन्दुके समान भी नहीं है। जगत्की समग्र शक्ति, समग्र, धर्म, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी (सौन्दर्य, माधुर्य एवं सम्पत्ति), समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य भगवान् श्रीकृष्णमें ही निवास करते हैं। इनकी पूर्णता केवल भगवान् श्रीकृष्णमें ही है।

भगवान् श्रीकृष्णमें तीनों प्रकारकी पूर्णता प्रत्यक्ष रूपमें पायी जाती है। वे आध्यात्मिकतामें परिपूर्ण हैं। उनका ज्ञान अनन्त है। स्थान-स्थानपर उन्होंने अर्जुन-उद्धव आदि भक्तोंको जो उपदेश किया है और जगत्में वे जिस प्रकार निर्द्वन्द्व वीरभावसे रहे हैं, वह सर्ववादिसम्मत है। भगवान्में आधिदैविक शक्ति भी पूर्णरूपसे प्रकट है। बाललीलासे लेकर परमधामगमनपर्यन्त जितने कार्य किये हैं सबमें अधिदैव जगत्का सम्बन्ध रहा है, और उपासनाकी दृष्टिसे वे सर्वथा पूर्ण हुए हैं तथा दूसरोंको पूर्ण बनानेके लिये हुए हैं। आधिभौतिक दृष्टिसे श्रीकृष्णका शरीर सर्वथा परिपूर्ण है। यद्यपि भगवान्का शरीर पञ्चभूतनिर्मित नहीं होता, तथापि यदि भौतिक दृष्टिसे विचार करना ही हो तो कहा जा सकता है कि उतना सुन्दर, उतना बलिष्ठ, उतना सुगठित शरीर सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक न किसीका हुआ और न आगे होनेकी सम्भावना है। श्रीमद्भागवतमें कंसकी रंगशालामें जानेपर श्रीकृष्णका जो वर्णन हुआ है, वह श्रीकृष्णके शरीरकी पूर्णताका द्योतक है। वहाँ ऐसा वर्णन आता है

कि श्रीकृष्ण पहलवानोंको वज्रके समान दीख रहे थे और स्त्रियोंको कामदेवके समान। बड़े-बड़े लोग उन्हें श्रेष्ठ पुरुषकी भाँति देख रहे थे और पिता-माताकी दृष्टिमें वे नन्हे-से शिशु मालूम पड़ रहे थे। ग्वालोंकी दृष्टिमें वे अपने आत्मीय थे और दुष्टोंकी दृष्टिमें शासक, कंस उन्हें मृत्युके रूपमें देख रहा था और योगी लोग परम तत्त्वके रूपमें; अज्ञानी लोग उनके विराट् शरीरको देखकर भयभीत हो रहे थे और प्रेमी भक्त अपने प्रभुके रूपमें देखकर कृतार्थ हो रहे थे। इस प्रकार उनके शरीरकी पूर्णताके कारण सब लोग उनका दर्शन विभिन्न रूपमें करते थे। केवल शारीरिक पूर्णता ही नहीं, उनके जीवनमें कर्मकी पूर्णता भी प्रत्यक्षरूपसे दृष्टिगोचर होती है। साधु-परित्राण, दैत्योंका संहार, धर्मकी स्थापना, अधर्मका नाश—इतना ही क्यों, समष्टिके हितके लिये जिन कर्मोंकी आवश्यकता थी, श्रीकृष्णके जीवनमें उन सबकी पूर्णता पायी जाती है।

अंशावतार और पूर्णावतारके कर्ममें थोड़ा अन्तर होता है। अंशावतारका कर्म एक देश, एक काल, एक परिस्थिति और कभी-कभी तो एक व्यक्तिके लिये हितकर होता है; परन्तु पूर्णावतारका कर्म सब देश, सब काल, सब परिस्थिति और सब व्यक्तियोंके लिये हितकर होता है। उदाहरणके लिये परशुराम और बुद्धके चरित्र ले सकते हैं। क्षत्रियोंका संहार उस समय आवश्यक था, परन्तु वह सर्वदा आवश्यक नहीं हो सकता। बुद्धके समय ईश्वरकी भी उपेक्षा करके अहिंसाका प्रचार करना अनिवार्य हो गया था, परन्तु वह सर्वदाके लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम एवं श्रीकृष्णके कार्यकलाप सब देश और सब समयके लिये एक-सरीखे

उपयोगी हैं। उनका कार्य समष्टिके सार्वकालिक हितको ध्यानमें रखकर होता है।

भगवान्में सांसारिक जीवोंके समान कोई इच्छा नहीं होती। वे सर्वदा अपने स्वरूपमें रमण किया करते हैं; उनकी दृष्टिमें कोई दूसरा है ही नहीं, सब कुछ अपना ही पसारा है—अपनी ही लीला है। उनमें इच्छा उत्पन्न करती है भक्तोंकी इच्छा। जब भक्तलोग जगत्की रक्षाके लिये उन्हें पुकारते हैं, जब बहुत-से भक्त भगवान्को, उनकी लीलाको प्रकटरूपसे देखना चाहते हैं और स्वयं उनकी लीलामें सम्मिलित होकर उसका आनन्द लेना चाहते हैं, और भगवान्की प्रत्यक्ष सेवा करके अपने जीवनको सफल करना चाहते हैं, तब भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी अभिलाषाके अनुसार उनके बीचमें आते हैं और उनकी एक-एक लालसा पूर्ण करते हैं। जगत्का कल्याण ही भगवान्का अवतार है। भक्तोंकी लालसा ही भगवान्की लीला है। भक्त भगवान्से चाहे जो काम करा ले—हँसा ले, नचा ले, माखनचोरी करवा ले, चीरहरण करवा ले, रासलीला करवा ले, रथ हँकवा ले, पैर धुलवा ले—सब कुछ करनेको वे निरन्तर प्रस्तुत रहते हैं। वे स्वयं इच्छाहीन हैं, भक्तकी इच्छा ही उनकी इच्छा है।

भगवान् श्रीकृष्ण एक भी हैं, अनेक भी हैं। वे ही गोलोकमें रहकर गोपियोंके साथ विहार करते हैं, वे ही वैकुण्ठमें रहकर सारे जगत्की रक्षा करते हैं, वे ही नर-नारायणके रूपमें रहकर अपनी तपस्याके बलसे संसारको धारण करते हैं, वे ही महाविष्णुके रूपमें

भी हैं और उनके श्वेत-कृष्ण केशोंके रूपमें अवतीर्ण भी होते हैं; वे एक हैं, फिर भी भक्तोंकी भावनासे अनेक हो जाते हैं। वे अपनी दृष्टिमें एक हैं, भक्तोंकी दृष्टिमें अनेक। श्रीमद्भागवतमें जिन श्रीकृष्णका वर्णन हुआ है, वे परिपूर्णतम श्रीकृष्ण हैं; इसलिये उनमें सबका समावेश है। इसलिये अमुक श्रीकृष्ण मेरे हैं और अमुक श्रीकृष्ण मेरे नहीं हैं—इस प्रकारकी भेद-बुद्धि करनेवाले भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं; क्योंकि जो भगवान्‌के सच्चे प्रेमी हैं, उन्हें तो सभी रूपोंमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णका ही दर्शन होता है, उनकी दृष्टिमें तो दूसरेकी सत्ता ही नहीं है।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक प्रकारकी भ्रान्त धारणा और भी सुनी जाती है। कुछ लोग श्रीकृष्णकी केवल कर्मलीलाको ही प्रधानता देते हैं और उनकी उपासनालीला अथवा प्रेमलीलाको गौण कर देते अथवा अस्वीकार कर देते हैं। उनकी बुद्धिमें कर्मकी वासना इतनी बलवती हो गयी है कि उसके सामने वे प्रेमकी लीलाओंको भूल ही जाते हैं अथवा उड़ा देनेकी चेष्टा करते हैं। ऐसे लोगोंने श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेममयी वृन्दावनकी चिन्मयी लीलाओंका रहस्य न समझकर उसको अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णके जीवनमें उचित नहीं समझा और ऐसी कल्पना कर ली कि जिन ग्रन्थोंमें ऐसी लीलाओंका वर्णन है, उन ग्रन्थोंके श्रीकृष्ण दूसरे हैं और महाभारतके वीर श्रीकृष्ण दूसरे। उन्होंने यहाँतक धृष्टता की कि वृन्दावनवाले श्रीकृष्णके महाभारतके श्रीकृष्णसे सर्वथा पृथक् होनेकी घोषणा कर दी। यह महाभारतके अध्ययन और अनुशीलनके अभावका ही परिणाम है।

महाभारतके अनेक स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावनकी लीलाओंका उल्लेख है।

महाभारतके सभापर्वमें जहाँ द्रौपदीके वस्त्राकर्षणका उल्लेख किया गया है, वहाँ बड़े स्पष्ट शब्दोंमें द्रौपदीकी प्रार्थना मिलती है—'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।' अर्थात् 'हे गोविन्द! हे द्वारकामें रहनेवाले श्रीकृष्ण! हे गोपीजनोंके प्रियतम? आओ, हमारी रक्षा करो।' यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तरङ्ग भक्त थी और उनकी अन्तरङ्ग लीलाओंसे परिचित थी। गोपियोंके साथ भगवान्का जो सम्बन्ध है, उसके द्वारा भगवान्को पुकारना इस बातका सूचक है कि भगवान् इस नामसे शीघ्र प्रसन्न होते हैं। 'गोपीजनप्रिय' सम्बोधन मथुरावासी अथवा द्वारकावासी भगवान्के लिये तभी प्रयुक्त हो सकता है, जब वे पहले गोकुल और वृन्दावनमें रहे हों एवं गोपियोंके साथ उनका विशेष प्रेम-सम्बन्ध रहा हो। इस एक सम्बोधनसे ही भगवान्की व्रजमें की हुई समस्त लीलाओंकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

महाभारतके अन्यान्य स्थलोंमें भी श्रीकृष्णकी बाललीलाका वर्णन है। शिशुपालने श्रीकृष्णकी निन्दा करते समय और भीष्मपितामहने दुर्योधनके प्रति श्रीकृष्णकी महिमा वर्णन करते समय उनकी बाललीलाओंकी चर्चा की है। यहाँ उन सबका उद्धरण न देकर केवल द्रोणपर्वके कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं, जो कि सञ्जयसे धृतराष्ट्रने कहे हैं—

श्रृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय ।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥
गोकुले वर्द्धमानेन बालेनैव महात्मना ।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय ॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे ।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम् ।
मुरं चामरसङ्काशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः ।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः ।
भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना ।
तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥
चेदिराजं च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली ।
अर्घ्ये विवदमानं च जघान पशुवत्तदा ॥
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥

इन श्लोकोंका अर्थ बहुत स्पष्ट है । इनमें गोकुल, मथुरा और हस्तिनापुरकी लीलाओंका स्पष्ट उल्लेख है । महाभारतके अतिरिक्त अग्निपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण आदि समस्त पुराणग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ भगवान्‌की लीलाका वर्णन हुआ है, सर्वत्र एक ही कृष्णका वर्णन है ।

श्रीमद्भागवतके कृष्ण दूसरे हैं और महाभारतके दूसरे—यह कहनेवालोंके चित्तमें ऐसी बात बैठी हुई है, अथवा वे यह कहना चाहते हैं कि श्रीकृष्ण ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं। श्रीमद्भागवतके कविने अपनी भावनाके अनुरूप श्रीकृष्णका चित्रण किया है और महाभारतके कविने अपनी भावनाके। वे काव्य, नाटक और उपन्यासके पात्रोंके समान इन पौराणिक व्यक्तियोंको भी कल्पित मानते हैं और कल्पनाके आदर्शके भेदसे श्रीकृष्णको दो व्यक्ति मान लेते हैं। बहुत ज़ोर देनेपर और प्रमाणित करनेपर वे इतना तो मान लेते हैं कि इतिहासमें श्रीकृष्ण-अर्जुन आदि नामके व्यक्ति हुए हैं, परन्तु उनके चरित्रको सर्वथा अपनी-अपनी भावनाके अनुरूप कल्पित मानते हैं। उनकी यह धारणा भारतीय ऐतिहासिक पद्धतिके सर्वथा विपरीत होनेके कारण कदापि आदरणीय नहीं है। अभी भारतवर्षमें आज भी ऐसे लोग हैं जो अपनेको श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरका वंशज कहकर गौरवान्वित अनुभव करते हैं। गोकुल, वृन्दावन, गोवर्द्धन, नन्दगाँव, मथुरा द्वारका, कुरुक्षेत्र आदि ऐसे अनेकों स्थान हैं जहाँ परम्परासे श्रीकृष्ण आदिके अनेकों कर्मोंके स्थल विशेष सुनिश्चित हैं। पाँच हजार वर्षके भीतरके जितने भी प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, उनमें उन स्थानोंकी और उनमें होनेवाले व्यक्तियोंकी ऐतिहासिकता एक स्वरसे स्वीकार की गयी है। क्या संसारके इतिहासमें केवल काव्य अथवा उपन्यासके बलपर किसी भी स्थान अथवा व्यक्तिकी इतनी पूजा हुई है? भारतीय पुराणोंमें जिन-जिन स्थानोंकी कथा है, वे आज भी प्रायः ज्यों-के त्यों मिलते हैं, और अनेक शिलालेखों, स्तूपों और ताम्रशासनों-द्वारा उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। यदि महाभारत-युद्ध ही

ऐतिहासिक नहीं है, तो श्रीकृष्णका सारथ्य और उनका गीतोपदेश क्या महत्त्व रखता है ? एक बात बड़ी स्पष्टताके साथ कही जा सकती है। वह यह कि महाभारत और श्रीमद्भागवतमें जब बहुत ही स्पष्ट रूपसे लिखा है कि यह ऐतिहासिक घटना है, तब उनकी इस उक्तिको न मानकर उनके एक अंशके बलपर किसीको मनमानी कल्पना करनेका क्या अधिकार है ? यदि उन्हें मानते हैं तो पूर्णरूपसे मानें और जैसे उनमें श्रीकृष्णको ऐतिहासिक, उनके चरित्रको सत्य एवं गोकुल तथा कुरुक्षेत्रके श्रीकृष्णको एक बतलाया गया है, वैसा ही स्वीकार करें; अपनी बुद्धिके भ्रमको शास्त्रग्रन्थोंपर न डालकर अपने ही पास रक्खें, शास्त्रमर्यादाको अक्षुण्ण चलने दें, उसपर अनुचित आघात न करें। शास्त्रग्रन्थोंके आधारपर इस कल्पनाके लिये तनिक भी अवसर नहीं है कि ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं।

श्रीकृष्णके भक्तोंकी अनेक श्रेणियाँ होती हैं। वे अपनी भूमिका, स्थिति और भावनाके अनुसार श्रीकृष्णकी विभिन्न लीलाओंसे प्रेम करते हैं और विशेष करके अपनी रुचिके अनुकूल लीलाओंका ही श्रवण-कीर्तन करते हैं। इनके अनेक भेद होनेपर भी मुख्यतः इनकी पाँच प्रकारकी आसक्तियाँ देखी जाती हैं—शान्तासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति और कान्तासक्ति। व्रजमें विशेष करके तीन आसक्तियोंका प्रकाश हुआ है—ग्वालबालोंमें सख्यासक्ति, नन्द-यशोदा आदिमें वात्सल्यासक्ति और गोपियोंमें कान्तासक्ति। वात्सल्यासक्तिकी लीला गृह-लीला है। माता-पिता घरपर रहकर अपने बच्चेसे प्यार करते हैं, उसकी देखभाल करते हैं और बाहर जानेपर उसके लिये चिन्तित रहते हैं। उसे ही सुख पहुँचानेके लिये अनेकों

प्रकारकी तैयारी करते रहते हैं। सखाओंके साथ होनेवाली लीला वनकी लीला है और प्रातःकालसे लेकर सायंकालतक ग्वालबाल श्रीकृष्णके साथ रहते हैं, उनके साथ हँसते हैं, खाते हैं, खेलते-कूदते हैं, समानताका व्यवहार करते हैं और सब कुछ भूलकर उन्हींके प्रेममें मग्न रहते हैं। कान्तासक्तिमती गोपियोंके साथ होनेवाली लीला कुञ्जलीला है और यह बड़ी ही गोपनीय है। औरोंकी तो बात ही क्या, वात्सल्यासक्ति रखनेवाले माता-पिताको भी इस रहस्य-लीलाका पता नहीं चलता और कुछ अन्तरङ्ग सखाओंको छोड़कर दूसरे ग्वालवाल भी इस अन्तरङ्ग लीलाको नहीं जानते। श्रीमद्भागवतमें इन त्रिविध लीलाओंका वर्णन है और इन तीनों प्रकारके भाव रखनेवाले उनका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके भावोंमें लीन हो जाते हैं और अपने जीवनको सफल एवं कृतकृत्य अनुभव करते हैं।

जिनके जीवनका उद्देश केवल भौतिक उन्नति है, जो शारीरिक जीवन और सुखभोगको ही सब कुछ समझते हैं, जिन्होंने सहृदयताके साथ मानवहृदयका अध्ययन नहीं किया है, जिन्होंने आध्यात्मिक शान्तिके मूलमन्त्र इस प्रेम-रहस्यका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है—दूसरे शब्दोंमें जो साधक नहीं हैं, जिन्हें जगत्के भोगोंसे वैराग्य नहीं है, जो अभी भगवत्कृपाके अनुभवसे वञ्चित हैं, वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति होनेवाले सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भावके रसकी न कल्पना ही कर सकते हैं और न तो अनुभव ही। श्रीमद्भागवत भागवतोंका, परमहंसोंका, सिद्ध साधकोंका ग्रन्थ है। इसकी मधुर और प्रेमपूर्ण लीलाओंको केवल वे ही समझ सकते हैं और केवल वे ही समझ सकते हैं।

श्रीमद्भागवतमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्यरसकी लीलाओंका वर्णन हुआ है। समस्त ब्रह्माण्डोंके एकमात्र अधिपति समस्त यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम-परवश होकर किस प्रकार ग्वालोंके साथ खेलते हैं, उनके साथ गौएँ चराते हैं, खेलमें उनसे हार जाते हैं और उन्हें पीठपर ढोते हैं—इन सब बातोंका बड़ा ही मधुर और हृदयको मुग्ध कर देनेवाला वर्णन हुआ है। वे ही परात्पर ब्रह्म, अखिललोकमहेश्वर, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किस प्रकार अपनी माताकी गोदमें बालोचित क्रीड़ा करते हैं, भूखे होकर दूध पीना चाहते हैं, डाँटनेपर डरते हैं, रोते हैं और ऊखलमें बँध जाते हैं—इन सब बातोंका इतना सुन्दर, इतना मोहक वर्णन हुआ है कि पढ़-सुनकर भगवान्की परम दयालुता और परम प्रेमिल स्वभावके अनन्त समुद्रमें हृदय डूबने-उतराने लगता है। इन लीलाओंके बीच-बीचमें पूतना, तृणावर्त, बकासुर, अघासुर आदि असुरोंके वधके रसकी अभिवृद्धि ही होती है, न्यूनता नहीं। भगवान्की ये लीलाएँ भी ऐश्वर्यसूचक नहीं, भगवान्की दयालुताकी ही सूचक हैं; क्योंकि सङ्कल्पमात्रसे निखिल जगत्की सृष्टि और संहार कर सकनेवाले प्रभुके लिये किसी दैत्यको मार देना ऐश्वर्यका कार्य नहीं हो सकता; इसके विपरीत उनका कल्याण करनेके लिये उन्हें अपने हाथोंसे मारना प्रभुके दयामय स्वभावका ही परिचायक है। जो लोग भगवान्को भगवान् नहीं मानते, वे भी उनकी सख्य-वात्सल्यमयी लीलाओंको पढ़कर स्तम्भित हो जाते हैं और उनका हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रहता।

प्रेम, आनन्द एवं रसस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण इतने कोमल एवं मधुर हैं कि वे अपने प्रेमीके हृदयमें किसी लालसाकी स्फूर्ति होनेके पहले ही उसको पूर्ण कर दिया करते हैं। वे इस बातके लिये निरन्तर सजग रहते हैं और अपने प्रेमीके हृदय-मन्दिरमें ही ज्योतिके रूपमें जगमगाते हैं कि कहीं उसे किसी वस्तुका अभाव न खटक जाय, उसे अपनेमें और मुझमें अपूर्णताका भाव न हो जाय। यही कारण है कि वे चौबीसों घंटे अपने प्रेमीके हृदयमें, प्राणोंमें और नेत्रोंमें निवास करते हैं; एक क्षणके लिये भी उसे छोड़कर कहीं नहीं जाते। यही उनका नियम है और यही सत्य है। फिर भी जब हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण उन गोपियोंको—जिनका जीवन श्रीकृष्णके लिये था और वे इस बातको जानते थे, स्वीकार भी करते थे—छोड़कर मथुरा चले गये और फिर कभी नहीं लौटे, तो यकायक चित्तमें एक प्रश्न उठता है कि क्या वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंका परित्याग ही कर दिया? और यदि यह बात सत्य है, तो क्या श्रीकृष्ण जैसे परम प्रेमी पुरुषोत्तमके चरित्रमें यह बात उपालम्भके योग्य नहीं है? है, और अवश्य है। यही बात असह्य होनेके कारण अनेक वैष्णवाचार्योंने ऐसी मान्यता कर ली कि श्रीकृष्ण वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी कहीं बाहर नहीं गये, अक्रूरके साथ उन्होंने केवल अपना एक प्रकाश विशेष भेज दिया। कुछ लोगोंकी ऐसी मान्यता है—और वे श्रीमद्भागवतके श्लोकोंसे ऐसा अर्थ भी निकालते हैं—कि श्रीकृष्ण गये तो सही, परन्तु नन्दबाबाके साथ ही लौट आये और मथुरामें अपना एक प्रकाश विशेष छोड़ आये। किसी-किसी पुराणमें श्रीकृष्णके पुनः वृन्दावन आनेका वर्णन भी मिलता

है। भगवान्‌के परम उदार स्वभावको देखते हुए ये सभी बातें ठीक जँचती हैं और ठीक हैं भी।

विचारणीय प्रश्न यह है कि भगवान्‌की नित्य लीलामें विहार करनेवाली गोपियाँ क्या जगत्‌में इसीलिये अवतीर्ण हुई थीं कि भगवान् नित्य उनके साथ संयोगकी लीला किया करें और केवल इतनेमें ही उनके अवतारका प्रयोजन पूर्ण हो जांय ? भगवान्‌की लीला, धाम और उनकी सहचरी शक्तियाँ इसीलिये अवतीर्ण हुई थीं कि संसारमें भूले हुए जीव यह बात सीखें कि भगवान्‌के साथ कैसे प्रेम किया जाता है, उनसे मिलनेके लिये कैसी उत्कण्ठा होती है और उनसे मिलन होनेपर कैसे लोकोत्तर रसका अनुभव होता है। व्रजकी लीलासे जगत्‌के जीवोंके सामने यह आदर्श रखा गया कि भगवान्‌के संयोगमें प्रेमका कैसा अनिर्वचनीय प्रकाश होता है; परन्तु जगत्‌में ऐसे कितने जीव हैं, जो भगवान्‌के मिलनका अनुभव करते हों ? ऐसे भगवत्कृपा प्राप्त महान् आत्माओंका अभाव नहीं है; परन्तु उनकी संख्या अँगुलियोंपर गिनी जा सकती है—वे बहुत थोड़े हैं। जगत्‌में ऐसे लोग बहुत अधिक हैं, जो भगवान्‌से वियुक्त हैं और उनके वियोगमें ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें अपना जीवन किस प्रकार विताना चाहिये, इस बातकी शिक्षा भी गोपियोंके जीवनसे ही मिलनी चाहिये। और यही कारण है कि भगवान्‌के वियोगमें भी जीवन धारण करके वे जगत्‌का हित करती रहती हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आता है कि श्रीकृष्णके विना गोपियोंके लिये एक क्षण भी सैकड़ों युगके समान हो जाता था— पलक गिरनेका व्यवधान भी उन्हें असह्य था और गिरनेपर वे पलक बनानेवाले

ब्रह्माको उपालम्भ भी देती थीं। फिर भी वे विरहमें जीवित रहीं, इसका कारण प्रेमकी पूर्णता ही है। प्रेमका यह स्वभाव है कि वह प्रेमीमें इस भावको भर देता है कि मुझे चाहे जितना दुःख हो, परन्तु मेरे प्रियतमको दुःखका लेश भी स्पर्श न कर सके। गोपियाँ सोचती थीं—'श्रीकृष्ण हमसे अलग रहनेमें ही जगत्का कल्याण सोच रहे हैं, वे हमारे वियोगी जीवनसे जीवोंका हित करना चाहते हैं। वे एक-न-एक दिन हमारे पास आयँगे ही। यदि हम उनकी इच्छाके अनुकूल अपना वियोगी जीवन न वितायें, शरीर त्याग दें, तो यह समाचार उन्हें किसी-न-किसी तरह मिल ही जायगा। वे हमारी मृत्युका समाचार सुनकर कितने दुःखी होंगे, उनके कोमल हृदयपर कैसी निष्ठुर ठेस लगेगी—कल्पना करके ही हृदय हहर उठता है। इसलिये जीवनमें चाहे जितनी व्यथा सहनी पड़े, उसे सहकर उनकी इच्छा पूर्ण करनी चाहिये और उन्हें एक क्षणके लिये भी कभी कष्ट न हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। गोपियोंका सङ्कल्प दृढ़ था, गोपियोंने इस व्रतका जीवनभर निर्वाह किया। उनमें जितनी कोमलता थी, उससे भी अधिक तितिक्षा और त्याग था—यह स्पष्ट है।

श्रीकृष्णमें जैसे समग्र माधुर्य और समग्र सौन्दर्य है, वैसे ही समग्र वैराग्य भी है। श्रीकृष्ण चाहे जिस रूपमें हों, जिस क्रियामें संलग्न हों, असङ्ग हैं—इतना निश्चित है। संसारमें और मानव-बुद्धिमें जितने विरुद्ध भावोंकी कल्पना की जा सकती है, सब श्रीकृष्णमें हैं; क्योंकि सबके आश्रय वे ही हैं। वे शिशु होते हुए भी पुरातन हैं, निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं, एक देशमें होते हुए भी सर्व देशमें

हैं। वे गोपियोंके पास न होते हुए भी हैं, और होते हुए भी नहीं हैं। केवल शारीरिक सान्निध्य नहीं है; मुख्य सान्निध्य तो मनका है, आत्माका है। जहाँ प्रेम है, वहाँ सन्निधि भी है—चाहे वह आँखोंसे नहीं दीखे। प्रेम न होनेपर शारीरिक सन्निधि भी किसी कामकी नहीं। गोपियोंके हृदयमें सच्चा प्रेम था, और सच्चा सान्निध्य भी था। उसे दूसरे लोग नहीं देख सकते थे, गोपियाँ देखती थीं। श्रीकृष्ण जानते थे कि ऐसा सान्निध्य संयोगकी अपेक्षा वियोगमें अधिक होता है। संयोगमें प्रियतमका दर्शन, मिलन सीमित होता है और वियोगमें अनन्त। जहाँ देखिये, प्रियतम-ही-प्रियतम हैं। उन्हींका दर्शन, स्मरण। किसीकी पदध्वनि उन्हींके आनेकी आहट है। कोई भी रूप उसी नटवरकी लीला है। श्रीकृष्णने अपनेको गोपियोंसे अलग करके उन्हें कोटि-कोटि रूपमें अपने-आपका दान किया था, यह गोपियोंकी दिनचर्यासे प्रकट है और उद्धव यही अनुभव करके उनके चरणोंकी धूलपर लोटते थे।

भगवान् दयामय हैं, वे दयाके ही कारण अवतीर्ण होते हैं और दयाके ही कारण अनेकों प्रकारकी लीला करते हैं। उनका प्रत्येक कार्य दयासे पूर्ण ही होता है। जो उन्हें चाहता है, उसे वे मिलते हैं अवश्य—चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न चाहता हो। जो शत्रुके रूपमें चाहते हैं, उन्हें शत्रुके रूपमें भी मिलते हैं और उनका कल्याण भी करते हैं। अनेक अवतारोंमें अनेकों व्यक्ति भगवान्की ओर आकर्षित हुए थे और उनमेंसे जिन्होंने पतिके रूपमें भगवान्को चाहा था, उनके लिये श्रीकृष्णावतार ही उद्धारका समय निश्चित किया गया था। भगवान् श्रीकृष्णके व्रज और

मथुराके जीवनमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ सम्पर्कमें आती हैं। एक तो यशोदा-राधा आदि गुणातीत श्रेणीकी स्त्रियाँ, जो भगवान्‌के नित्य धाममें उनके साथ रहती हैं, और कुछ गोपियाँ, जो साधन-सिद्ध होकर गुणातीत हो गयी हैं। दूसरी श्रेणीकी सात्त्विक स्त्रियाँ मथुराकी रहनेवाली यज्ञपत्नियाँ हैं—जो बड़े ऊँचे भावसे श्रीकृष्णके पास आती हैं, प्रेम करती हैं, रहना चाहती हैं; परन्तु गोपियों-जैसा अधिकार न होनेके कारण रह नहीं पातीं उनके चित्तमें परिवारके प्रति कुछ आसक्ति भी है, जो कि उनके वचनोंसे ही प्रकट हो जाती है। तीसरी श्रेणीकी राजसिक स्त्रियाँ वे हैं जो व्रजके वनोंमें रहती हैं, जातिकी पुलिन्द-कन्या—भीलिनें हैं, परन्तु श्रीकृष्णके प्रति वे विशेष आकृष्ट हैं और चाहती हैं कि श्रीकृष्ण हमें मिलें। परन्तु संकोच, भय और अपनी हीनताके बोधके कारण वे श्रीकृष्णसे अपनी कामना प्रकट नहीं कर सकतीं; केवल भगवान्‌के चरणोंकी धूल लेकर अपनी व्यथा मिटा कर सन्तोष कर लेती हैं। श्रीमद्भागवतके वेणु-गीत (१०।२१) में इनकी बड़ी प्रशंसा है। इन तीनों श्रेणीकी देवियोंकी प्रशंसा सहस्र-सहस्र मुखसे गायी जाय, तो भी समाप्त नहीं हो सकती। इन तीनोंके अतिरिक्त चौथी श्रेणीकी एक स्त्री है, जो तामसिक है और जिसकी निन्दा भी श्रीमद्भागवतमें मिलती है; वह चौथी स्त्री है कुब्जा, जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवतमें दो स्थानोंपर है—

कुब्जा अथवा कंसकी सैरन्ध्री मथुराके बीच सड़कपर भगवान्‌को मिलती है, भगवान्‌को चन्दन लगाती है—जिसके फलस्वरूप भगवान् उसका कूबड़ ठीक कर देते हैं और वह एक सुन्दर स्त्रीके रूपमें हो जाती है। उसमें तामसिकता अधिक है और वह लज्जा-संकोच छोड़कर

वहीं भगवान्का पल्ला पकड़ लेती है। भक्त-वाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण उसकी कामना पूर्ण करनेका वचन दे देते हैं और मथुरामें शान्ति स्थापित हो जानेके पश्चात् उसे पूर्ण भी करते हैं। भगवान्का धर्म है भक्तकी इच्छा पूर्ण करना, और भक्त सब प्रकारके होते ही हैं। इसलिये भगवान्के सामने कदाचित् कोई ऐसा भक्त आ जाय, तो भगवान् उसकी भी इच्छा पूर्ण करते हैं—इस बातका यह ज्वलन्त दृष्टान्त है। अनादि कालसे कामनाओंके कीचड़में फँसा हुआ जीव भगवान्के सामने जाकर भी अपनी कामनाओंको ही पूर्ण करना चाहता है, और भगवान् उसके लिये छोटे-से-छोटा काम कर दें—यह भी उनके अनुरूप ही है।

कुब्जाके पूर्वजन्मके प्रसंगमें तीन प्रकारकी कथाओंका उल्लेख मिलता है, एक तो माथुर हरिवंशकी कथा, जिसका उद्धरण श्रीजीव-गोस्वामीजीमें अपनी टीकामें दिया है, वह इस प्रकार है—पूर्वजन्ममें यह एक राजकुमारी थी। देवर्षि नारद इसके पिताके पास आकर भगवान्के गुण सुनाया करते थे। जब यह विवाहके योग्य हुई और इसके पिताने देवर्षि नारदसे वरके सम्बन्धमें पूछा, तब उन्होंने इस विषयमें राजकुमारीका ही अभिप्राय जानना ठीक समझा। राजकुमारीने कहा—'आप जिसके गुणोंका गान करते हैं, उसीको मैं वरण करूँगी।' नारदके बहुत मना करनेपर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब उन्होंने तपस्या करनेका उपदेश किया। तपस्या पूर्ण होनेपर आकाशवाणी हुई कि दूसरे जन्ममें जिसके स्पर्शसे तुम्हारा कूबड़ अच्छा हो जाय, उसीको वह पुरुष समझ लेना और उसीको वरण करना। वही कुब्जा हुई। दूसरी कथा गर्ग-संहितान्तर्गत मथुराखण्डके

ग्यारहवें अध्यायमें मिलती है। वहाँ कहा गया है कि अपने कान-नाक काटनेकी बात रावणको सुनाकर शूर्पणखा पुष्करतीर्थमें चली गयी और वहाँ बहुत दिनोंतक तपस्या करती रही। उसकी तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने वर दिया कि 'द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हें अपनायेंगे।' वही मथुरामें कुब्जारूपसे रहती थी। तीसरी कथा श्रीमद्भागवतकी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखी है—'कुब्जा भू-शक्ति सत्यभामाकी अंशावतार थी। कंसके अत्याचारके कारण ही वह कुब्जा हो गयी थी। लक्ष्मीकी ही भाँति पृथ्वी भी भगवान्की अर्धाङ्गिनी है, इसलिये उसे अपनाकर भगवान्ने उसका दुःख दूर किया।' कल्प-भेदसे ये सभी कथाएँ ठीक हैं।

भगवान् जिस समय कुब्जाके घर पधारे, उसके एक-ही-दो दिन पहले उद्धव वृन्दावनसे लौटे थे। उनके मनमें यह शङ्का थी कि भगवान् अपने भक्तोंको भी छोड़ देते हैं और उनकी इच्छा भी अपूर्ण रख देते हैं। उनकी इसी शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान् उद्धवको लेकर कुब्जाके घर गये और यह दिखाया कि 'मैं जब कुब्जाका भी परित्याग नहीं कर सकता, तब गोपियोंका कैसे कर सकता हूँ?* गोपियाँ तो मुझसे नित्य-युक्त हैं, मैं उनके रोम-रोममें हूँ और वे मेरे रोम-रोममें हैं। एक क्षणके लिये भी हमारा-उनका वियोग नहीं है। इस लीलासे भगवान्की परम कृपालुता प्रगट होती है, जैसा कि श्रीजीवगोस्वामीने कहा है—'सैरन्ध्याः स्वीकृतिः सैनं व्यनक्ति स्म

---

* सैरन्ध्रीमपि सन्त्यक्तुमहं शक्तोऽस्मि नोद्धव।
किमुत व्रजलोकांस्तानिति व्यञ्जन्निमामगात्॥

परां कृपाम् ।' इतना होनेपर भी इसका चरित्र भक्तोंके लिये आदर्श नहीं माना गया है । स्वयं श्रीशुकदेवजीने कहा है—

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ ॥

'बड़ी कठिनतासे प्रसन्न होनेवाले सर्वेश्वरेश्वर भगवान् विष्णुको प्रसन्न करके जो जीव विषय-भोगका ही वरण करता है, वह बड़ा दुर्बुद्धि है, क्योंकि विषय असत् हैं ।' इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गोपियाँ श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना चाहती थीं, उनमें विषय-लिप्साकी गन्ध न थी और कुब्जामें विषयलिप्सा थी । इसीसे श्रीशुकदेवजीने उसकी निन्दा की है । यह प्रसंग भी गोपियोंके प्रेमकी महिमा ही सूचित करता है ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि श्रीकृष्णावतारके समय अनेक युगोंके लोग अपनी-अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, पूर्वजन्ममें प्राप्त वरदानोंके अनुसार पृथ्वीमें जन्म ग्रहण करते हैं और उन सबका सम्बन्ध भगवान् श्रीकृष्णसे होता है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण परिपूर्णतम हैं । जिनका कल्याण अंशावतार-कलावतारसे नहीं हो सकता था, उनका कल्याण भी इस अवतारमें हो जाता है। इसी न्यायसे श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी बहुत-सी पत्नियों और पुत्रोंका होना मिलता है। यह ध्यान देनेकी बात है कि जबतक रुक्मिणी आदि स्त्रियोंने स्वयं अथवा उनके अभिभावकोंने श्रीकृष्णको बुलाया नहीं और उन्हींसे विवाह करनेकी इच्छा नहीं की, तबतक भगवान् श्रीकृष्णने किसीको ग्रहण नहीं

किया। भगवान् श्रीकृष्णका ग्रहण भक्तोंके भावके अनुसार ही होता है और वे अपने चाहनेवालेको अस्वीकार नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवत (१०।६९) में वर्णन आया है—भगवान्‌के अनेक विवाहकी बात सुनकर देवर्षि नारदके मनमें बड़ा सन्देह हुआ कि वे अकेले ही इतनी स्त्रियोंको कैसे प्रसन्न रखते होंगे। उन्होंने द्वारकामें जाकर प्रत्येक पत्नीके महलमें भगवान्‌का दर्शन किया और उनकी विचित्र लीला देखकर आश्चर्यका अनुभव किया। भगवान् अपनी प्रत्येक पत्नीके साथ पृथक्-पृथक् रहते थे। यह उनके लिये कोई कठिन बात न थी; क्योंकि वे सङ्कल्पमात्रसे ही जितने रूप चाहें, धारण कर सकते हैं। प्रत्येक पत्नीकी प्रसन्नताके लिये उन्होंने बहुत-से पुत्र और पुत्रियाँ भी उत्पन्न की थीं, जिनकी संख्या सुनकर बहुत-से लोग चकित रह जाते हैं। उन्हें सृष्टि-तत्त्वपर विचार करना चाहिये (देखिये विसर्गका वर्णन)। सृष्टि केवल अंग-संगसे ही नहीं होती। स्त्री-पुरुषके संयोगसे होनेवाली सृष्टि तो बहुत निम्न स्तरकी है। सृष्टि मानसी, चाक्षुषी आदि कई प्रकारकी होती है और ब्रह्मा, प्रजापति एवं ऊँचे अधिकारके ऋषिगण इसी श्रेणीकी सृष्टि किया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका शरीर पाञ्चभौतिक था और वे भी साधारण पुरुषोंकी भाँति अंग-संगसे ही सन्तानोत्पादन करते थे, ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य शरीरमें हेय वस्तु रहती ही नहीं। विष्ठा, मूत्र, नख, नेत्रमल, कर्णमल आदि वस्तुएँ केवल पाञ्चभौतिक शरीरमें ही होती हैं, दिव्य शरीरमें नहीं। वे मनुष्यरूप धारण करनेके कारण शौच-स्नानादिकी लीला करते हैं, यह दूसरी बात है। भगवान् श्रीकृष्णको भागवतमें 'अवरुद्धसौरत'

कहा गया है और श्रुतियोंमें उनका नैष्ठिक ब्रह्मचर्य प्रसिद्ध है। इसलिये उनके वीर्यत्यागद्वारा सन्तानोत्पत्तिकी धारणा उनका स्वरूप न समझनेके कारण होती है। अतः उनके सब पुत्र और पुत्रियाँ मानसिक ही थीं, उनके सङ्कल्पमात्रसे ही उनकी उत्पत्ति हो गयी थी——ऐसा समझना चाहिये।

भगवान् जिन स्थानोंमें लीला करते हैं, वे नित्य और चिन्मय हुआ करते हैं। श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारका भगवान्के नित्य लीला-धाम हैं। ये देश और कालसे परिच्छिन्न होनेपर भी परिच्छिन्न नहीं होते, भगवान्की इच्छासे इनमें संकोच और विकास हुआ करता है। छोटे-से वृन्दावनमें जितनी गोपियों, ग्वालों और गौओंके होनेका वर्णन आता है, वह स्थूल दृष्टिसे देखनेसे सम्भव नहीं प्रतीत होता; फिर भी भगवान्की महिमासे वह सब सत्य ही है। वृन्दावनकी एक झाड़ीमें ही ब्रह्माको सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड और उनके अधिवासी दीख गये थे। श्रीयोगवासिष्ठके मण्डपोपाख्यानमें एक-एक अणुके अंदर सृष्टिके महान् विस्तारका प्रत्यक्ष अनुभव कराया गया है। देशका बन्धन केवल स्थूल वस्तुओंमें ही रहता है, सूक्ष्मतम दिव्य वस्तुओंमें नहीं। इसीसे द्वारका धामका भी भगवान्की इच्छासे उनके स्थितिकालमें विकास हो जाता है और उसमें कोटि-कोटि यदुवंशी रह सकते हैं। स्थान-संकोचका अनुमान करके जो लोग यदुवंशियोंकी संख्या घटानेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि द्वारका भगवान्का चिन्मय धाम है। वह देश-कालके परिच्छेदसे रहित, वास्तवमें भगवत्स्वरूप एवं अनन्त है; उसमें सारी सृष्टिके जीव निवास कर सकते हैं, यदुवंशियोंकी तो कथा ही क्या है।

श्रीमद्भागवतका पूर्ण पाठ कर लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णका जीवन पूर्ण जीवन है। उनका ऐश्वर्य और साथ ही मर्यादापालन दोनों ही पूर्ण हैं। ऐश्वर्य और धर्मका अपूर्व सामञ्जस्य उनके जीवनमें देखा जाता है। सौन्दर्य, माधुर्य, कोमलता, सम्पत्ति आदिके साथ ही उनकी कीर्ति भी परिपूर्ण है एवं उनके रहते हुए भी वे ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण हैं। श्रीकृष्णके ज्ञानकी पूर्णता सभी मानते हैं। श्रीमद्भागवतके अध्ययन करनेवालोंसे उनके वैराग्यकी पूर्णता भी अविदित नहीं है। मथुरा और द्वारकामें स्वयं राजा न बनकर उन्होंने उग्रसेनको राजा बनाया और वे गोपियोंसे इतना प्रेम होनेपर भी उनसे अलग ही रहे। महाभारतकी सम्पूर्ण विजय इनके ही कारण हुई, परन्तु इन्होंने उससे तनिक भी लाभ नहीं उठाया, उलटे युधिष्ठिरको ही समय-समयपर बहुत-सा धन देते रहे। उनके वैराग्यकी पूर्णताका सबसे ज्वलन्त प्रमाण यह है कि उनकी आँखोंके सामने सारे यदुवंशकी समाप्ति हो गयी और बचे हुए लोगोंकी कोई व्यवस्था न करके मुसकराते हुए वे अपने धामको चले गये। वे चले गये, परन्तु हमलोगोंके लिये बहुत कुछ छोड़ गये। वे अपना ज्ञान, अपना वैराग्य और अपने 'लोकाभिराम', 'धारणा-ध्यान-मङ्गल' दिव्य शरीरकी वह स्मृति, जिसके द्वारा आज भी जीव उन्हें उसी प्रकार प्राप्त कर सकता है, कहीं ले थोड़े ही गये हैं? उनका स्मरण करके, अनुभव करके जीव अपना कल्याण सम्पादन करे—यही उनके अवतारका मुख्य प्रयोजन है।

श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ

श्रीमद्भागवत भावका समुद्र है। उसके एक-एक श्लोक और एक-एक पदमें इतने अनूठे भाव भरे हैं कि यदि कोई उसमें गोता लगाये तो इतना सुख, इतना रस अनुभव करे जिसकी कोई सीमा नहीं। अबतकके अनेक आचार्यों और संतोंने उसमें डुबकी लगाकर बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त किये हैं और मुक्त हस्तसे उन्हें जनता-जनार्दनकी सेवामें समर्पित भी किये हैं। यदि कोई उनके नामोंकी गिनती करना चाहे तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। वैसे ही संतोंमें श्रीहरिसूरि नामके एक महाकवि हो गये हैं। उन्होंने संवत् १८६४ के लगभग एक 'भक्तिरसायन' नामका काव्यग्रन्थ लिखा था। उसकी श्लोक-संख्या ५००० के लगभग है। उस ग्रन्थमें दशम स्कन्धके पूर्वार्धके अनुसार ४९ अध्याय हैं और सबमें श्रीमद्भागवतके मूल और अर्थके आधारपर सुन्दर-सुन्दर भावोंकी उद्भावना की गयी है। श्रीमद्भागवतको लेकर ऐसी सरस उत्प्रेक्षाएँ शायद ही कहीं अन्यत्र मिलें। सचमुच भागवतके गम्भीर भावोंको समझ लेना बड़े-बड़े विद्वानोंके भी वशकी बात नहीं है। इसे तो वे ही लोग ग्रहण कर सकते हैं, जिनका हृदय भगवान्‌के प्रति प्रेमभावसे छलक रहा है। यों तो उनका पूरा ग्रन्थ ही अत्यन्त मधुर एवं सरस है, परन्तु एक स्थानपर सब-का-सब उद्धृत कर लेना सम्भव नहीं है। इसलिये यहाँ पाठकोंकी सेवामें उसके कुछ नमूने ही उपस्थित किये जाते हैं।

जिस समय पृथ्वी असुरभावाक्रान्त राजाओंके अत्याचारसे पीड़ित होकर ब्रह्माकी शरणमें जाती है और ब्रह्मा उसकी व्यथा सुनकर भगवान् शङ्करको साथ ले क्षीरसागरकी यात्रा करते हैं, उस समय ब्रह्माजी भगवान् शङ्करको साथ क्यों ले जाते हैं—इसका रहस्य खोलते हुए श्रीहरिसूरि कहते हैं—

भक्ताभक्तजनावनार्दनकृते सत्त्वं तमोऽपेक्ष्यते
तत्राद्यं तु हरौ सदावनपरे नैसर्गिकं वर्तते ।
अन्यद् योजयितुं ध्रुवं विधिरगात् त्र्यक्षेण सार्द्धं यतः
प्रोक्तं तेन पुरो हरेर्विहरणं शक्त्या स्वकालस्थया ॥

'भक्तोंकी रक्षाके लिये सत्त्वगुणकी आवश्यकता होती है और दुष्टोंके दमनके लिये तमोगुण की । भगवान् विष्णुमें सत्त्वगुण तो सदा-सर्वदा स्वाभाविक ही विद्यमान रहता है; क्योंकि वे भक्तोंकी रक्षामें तत्पर रहते ही हैं । परन्तु तमोगुणके स्वामी तो भगवान् शङ्कर ही हैं । इसलिये ब्रह्माजी भगवान् शङ्करको विष्णुभगवान्के पास ले गये कि वे भी इनके गुणसे युक्त होकर दुष्टोंके दमनका कार्य करें ।' यह बात श्रीमद्भागवतके मूलमें भी स्पष्टरूपसे कह दी गयी है कि भगवान् अपनी कालशक्ति अथवा रुद्रशक्तिके द्वारा पृथ्वीका भार क्षीण करते हुए विहार करेंगे ।

शङ्करजीको साथ ले जानेका दूसरा कारण बतलाते हुए वे कहते हैं—

यदा स्यातां सत्त्वानुसरणचणौ द्वावपि गुणौ
तदा योगः सिद्धो भवति भगवत्प्रापक इति ।

स्फुटं यत् क्षीराब्धौ सहहरपरमेष्ठिप्रसरणात्
समाधिः सिद्धोऽभूदुदितहरिसाक्षात्कृतिसुखः ॥

'अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् यह बात जानते हैं कि जब रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुणका अनुगमन करने लगते हैं, तब भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला योग सिद्ध हो जाता है। यह बात इस घटनासे स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि जब तमोगुणके अभिमानी रुद्र और रजोगुणके अभिमानी ब्रह्मा दोनों एक साथ मिलकर सत्त्वगुणके प्रतीक क्षीरसागरके तटपर पहुँचे, तब स्वयं ही उनकी समाधि लग गयी और उसमें भगवान्‌के साक्षात्कारका सुख उपलब्ध हुआ।'

कितनी सुन्दर और शास्त्रीय सूझ है!

भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके अवसरपर सम्पूर्ण प्रकृतिकी प्रसन्नताका वर्णन किया गया है। उस प्रसङ्गमें श्रीहरिसूरिने एक-एक विषयपर अनेक-अनेक सूक्तियाँ लिखी हैं। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि उस समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं। इसपर वे कहते हैं कि दिशाओंके प्रसन्न होनेका एक विशेष कारण था। वह यह कि उनके पति दिक्पालगण दैत्योंके भयसे अपना अधिकार और घर-द्वार छोड़-छाड़कर भाग गये थे। वे वियोगिनी थीं, दुखिया थीं। श्रीकृष्णके जन्मसे उन्हें अपने पतियोंके अधिकार और संयोगकी प्राप्ति होगी, यह सोचकर वे प्रसन्नतासे फूली नहीं समातीं। देखिये, इसका कितना सुन्दर वर्णन है—

रिपुजातभयोज्झिताधिकारैः
पतिभिः साकमितोऽचिरेण योगः।

प्रभवेदिति ता दिशः प्रसेदु-
भुँवि जन्मैशमवेक्ष्य कंसहन्तु ॥

परन्तु दिशाओंकी प्रसन्नताका इतना ही कारण नहीं था, वे इसलिये भी प्रसन्न हो रही थीं कि उनका एक नाम 'हरित्' है और श्रीहरिके अवतारसे उनका हरित्व और भी बाधारहित तथा प्रसादपूर्ण हो जायगा। संस्कृतमें दिशाओंका एक नाम आशा भी है। दिशाएँ यह सोचकर और भी प्रसन्न हो गयीं कि 'अब भगवान्के अवतारसे सत्पुरुषोंकी आशाएँ अर्थात् हम दिशाएँ पूर्ण हो जायँगी। इससे बढ़कर हमारे लिये आनन्दकी बात और क्या होगी!' श्रीहरिसूरि कहते हैं कि भगवान्के अवतारके दिन दिशाएँ प्रसन्न हो, यह तो स्वाभाविक ही है; क्योंकि दिशाएँ ही भगवान्के कान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दुःखियोंकी प्रार्थना सुननेके लिये सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं, यह बात अपनी प्रसन्नताके द्वारा उन्हें सूचित जो करनी है। उन्हींके शब्दोंमें—

दुर्दान्तोद्धतदैत्यदत्तविपदां तत्क्लेशनाशार्थिकां
श्रोतुं वाचमदुहृदां सदयधीर्दत्तावधानः सदा।
अस्त्येव प्रभुरित्यशङ्कमखिलस्पष्टावगत्यै तदा
युक्तं ता निखिलाः प्रसेदुरमलास्तच्छ्रोत्ररूपा दिशः॥

अवश्य ही श्रीहरिसूरिकी दृष्टिमें प्रकृतिका एक-एक कण और एक-एक भावना भगवद्भावसे सम्बद्ध होकर ही सचेष्ट है।

आज वायु बड़ी ही शीतल, मन्द, सुगन्ध बह रही है—इसका कारण क्या है? सम्भव है, वह उदारशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णसे

प्रेम करनेके लिये स्वयं भी उदार बन रही हो। नहीं-नहीं, वह अभ्यास कर रही है इस बातका कि जब प्यारे श्यामसुन्दर लीलाविहार करते-करते थक जायँगे और उनके मुखारविन्दपर मकरन्दके समान स्वेदबिन्दु झलकने लगेंगे, तब मैं धीरे-धीरे उनका पान करूँगी। इसके लिये पहलेसे ही अभ्यास करना चाहिये, कहीं कोई ढिठाई न हो जाय। सम्भव है, वायुदेव यह सोच रहे हों कि भगवत्प्राप्तिके लिये शुद्ध अन्तःकरण चाहिये और उसके लिये कुछ दान-पुण्यकी आवश्यकता है। इसीसे वे सुकृत-सुगन्धके उपार्जनमें व्यस्त हो रहे हों। वायुदेवके मनमें एक दूसरी बात भी हो सकती है। वे सोच रहे होंगे कि 'मेरे पुत्र हनुमान्ने श्रीरामावतारमें भगवान्की बड़ी सेवा की है। यद्यपि अपने पुत्रकी सेवासे मैं कृतार्थ हो चुका हूँ, तथापि स्वयं भी भगवान्की कुछ-न-कुछ सेवा करनी चाहिये।' श्रीहरिसूरि कहते हैं—

पुत्रेण प्राग्घनुमता कृतयास्य भूयः
शुश्रूषयात्र भृशमस्मि कृतार्थ एव।
साक्षात्तथाप्यहमिहापि समाचरेयं
सेवामतः परिचचार तदा स दासः॥

जिस समय श्रीवसुदेवजी अपने पुत्र श्यामसुन्दरको लेकर नन्दबाबाके घर पहुँचानेके लिये गोकुल जा रहे थे, श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आता है कि उस समय यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं। बढ़नेके कारणकी उत्प्रेक्षा करते हुए श्रीहरिसूरिजी कहते हैं—

सन्मानसे लसति यत्पदपद्मरेणुः
सोऽयं स्वयं प्रभुरुपैति ममाद्य तीरे।

सूर्यात्मजेत्यतितरां मुदमुद्वहन्ती
सानन्दबाष्पलहरीभिरभूदपारा ॥

श्रीयमुनाजीने सोचा, 'संतोंके पवित्र मानसतीर्थमें जिनके चरण-कमलोंकी रमणीय रेणु शोभायमान होती है, वे ही प्रभु आज मेरे तटपर पधार रहे हैं !' यह बात ध्यानमें आते ही श्रीयमुनाजीका हृदय आनन्दसे भर गया। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी धारा बह चली और बस, यही कारण है कि उस समय वे अपार हो गयीं। सम्भव है, श्रीयमुनाजीने सोचा हो कि—'ये हैं शूरके वंशज और मैं हूँ सूर्यकी पुत्री ! इनके सामने मैं भी अपना शौर्य प्रकट करूँ, यह उचित ही है।' इसीसे उन्होंने एक सुसज्जित सेनाके समान अपनी जलराशि उनके सामने खड़ी कर दी। यह भी सम्भव है कि यमुनाजी शेषनागको देखकर डर गयी हों। उन्होंने सोचा होगा कि भयङ्कर कालियनाग तो मेरे अंदर रहकर सबको भयभीत कर ही रहा है, अब यह दूसरा आ पहुँचा। इसीसे उन्होंने शेषनागके सहस्र फण देखकर उन्हें लौटा देनेके लिये अपनेको इतना बढ़ा लिया हो; परन्तु यह सब कुछ नहीं, श्रीयमुनाजी कालिन्दीके रूपमें भगवान्‌की पटरानी होनेवाली हैं। 'मैं तुम्हारी योग्य प्रेयसी हूँ', यह दिखानेके लिये ही वे अपनी अपार जलराशिके द्वारा भगवान्‌के हृदयके समान ही अपने हृदयकी विशालता प्रकट कर रही हैं। श्रीहरिसूरि कहते हैं—

अनन्तशम्बरोल्लासि हृदयं सदयं सदा।
तवेवेश ममाप्यस्तीत्यापगा किमबोधयत् ॥

यह सब तो हुआ, परन्तु क्षणभरमें ही यमुनाजी घट क्यों गयीं ? इसका भी कारण सुनिये—

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलि-
र्ममाग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमार्ष्टुम् ।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना
क्वचित्कण्ठदघ्ना च सा किं तदाऽऽसीत् ॥

श्रीयमुनाजीने सोचा कि 'कहीं भगवान् श्रीकृष्णके मनमें यह बात आ गयी कि मैं यमुनाके अगाध जलमें जलक्रीड़ा कैसे करूँगा, तब तो बुरा होगा !' इसीसे वे झट इतनी कम हो गयीं कि उनमें कहीं गलेभर पानी रह गया तो कहीं नाभितक ही। कहीं-कहीं तो घुटनेतक आ गया ! सचमुच श्रीयमुनाजीके हृदयका यह भाव श्रीहरिसूरिकी पैनी दृष्टिसे ही समझा जा सकता है।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आया है कि जिस समय पूतना खूब वन-ठनकर श्रीकृष्णको कालकूट विष पिलाने गयी, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपने नेत्र बंद कर लिये। भगवान् श्रीकृष्णके नेत्र बंद करनेका क्या रहस्य है, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये श्रीहरिसूरिने अनेकों उत्प्रेक्षाएँ की हैं। वे कहते हैं—'भगवान्ने सोचा होगा कि 'मैं सोनेका अभिनय कर लूँ, तभी पूतनाकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति पापजनक हो सकती है। यदि मैं देखता ही रहा, तब तो उसका अपराध हल्का हो जाता है।' इस प्रकार समदर्शी भगवान्ने अपने स्वच्छन्द लीला-विहारमें भी मर्यादा-पालनका समुचित ध्यान रक्खा। भगवान्के नेत्र बंद करनेका यह भी कारण हो सकता है कि वे पूतनाको आया हुआ देखकर कुछ सोचने लगे हों। अवश्य ही उन्होंने बाह्य नेत्र बंद करके अन्तर्दृष्टिसे इस विषयपर विचार किया होगा कि 'मुझे केवल अपनी ही रक्षा करनी

चाहिये अथवा इस पापिनी पूतनाके पंजेसे जगत्के समस्त बालकोंकी रक्षा।' तभी तों सबकी रक्षाके लिये पूतनाके मृत्युदण्डका निर्णय हुआ। परम कृपालु मधुसूदन भगवान्की अन्तर्दृष्टिसे यही निर्णय होना चाहिये था। सम्भव है भगवान्के मनमें यह बात आ गयी कि 'तनिक देखो तो इस पूतनाका परस्पर विरुद्ध व्यवहार! यह रूप तो धरकर आयी है मेरी पत्नी लक्ष्मीका और पिलाना चाहती है मुझे अपना दूध! ऐसी पापिनीका मुँह देखना भी पाप है।' यही सोचकर उन्होंने नेत्र बंद किये होंगे। नेत्र बंद करनेका कारण यह भी हो सकता है कि भगवान्ने सोचा होगा—'पूतनाने इस जन्ममें तो कोई पुण्य किया नहीं, सम्भव है पूर्वजन्ममें कुछ किया हो, तभी तो मेरे पास चली आ रही है।' नेत्र बंद करनेका यही कारण होगा। एक बात और है, भगवान्ने सोचा होगा कि 'मुझे इस अवतारमें पहले-पहल स्त्रीका ही वध करना पड़ रहा है। जब यह कटु कर्म करना ही पड़ रहा है, तो चलो, आँख बंद करके ही कर लें।' अन्यथा वे उस पापिनीका स्पर्श ही कैसे करते! ऐसा जान पड़ता है कि सर्वानिष्टनिवृत्तिके लिये भगवान्को योग ही अभीष्ट है। इसी आदर्शकी स्थापनाके लिये पूतनारूप अरिष्टकी निवृत्तिके उद्देश्यसे नेत्र बंद करके योगकी साधना तो नहीं कर रहे हैं? श्रीहरिसूरि भगवान्के नेत्र बंद करनेपर उत्प्रेक्षा करते हुए लिखते हैं—

दातुं स्तन्यमिषाद् विषं किल धृतोद्योगेयमास्ते यतः
पीतं चेत् प्रभुणा पुरो बत गतिः का वास्मदीया भवेत्।
इत्थं व्याकुलितान्निजोदरगतानालोक्य लोकान् प्रभु-
र्यक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं चक्रेऽक्षिसम्मीलनम्॥

भगवान्के उदरमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड निवास करते हैं। जब उनमें रहनेवाले जीवोंने देखा कि पूतना दूधके बहाने भगवान्को विष पिलाना चाहती है, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—अब हमारी क्या गति होगी! भगवान्ने अपने निज जनोंको इस चिन्तामें पड़े देखकर उन्हें अभयदान देनेके लिये नेत्र बंद कर लिये, ऐसा जान पड़ता है। सम्भव है, भगवान्ने इसलिये भी अपने नेत्र बंद कर लिये हों कि जो स्त्री बाहर तो माताके समान भाव दिखाती है और भीतर राक्षसीके समान क्रूर कर्म करनेके लिये उद्यत रहती है, उसका मुँह देखने योग्य नहीं है। भगवान्के नेत्र बंद करनेका एक और कारण जान पड़ता है। भगवान्ने सोचा होगा कि 'यदि मैं उसकी ओर कृपादृष्टिसे देखता हूँ तो यह निष्पाप हो जाती है और यदि उग्र दृष्टिसे देखता हूँ तो भस्म हो जाती है। दोनों ही प्रकारसे इसकी वासनाके संस्कार अवशेष रह जाते हैं और यह सर्वथा मुक्त नहीं हो जाती।' यही सोचकर उसके कल्याणके लिये भगवान्ने अपने नेत्र बंद कर लिये। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें ही सुनिये—

> दृष्टा चेत् करुणादृशेयमनघा स्याच्चोग्रया भस्मसाद्
> एवं चेदवशिष्यते ह्युभयथा तद्वासनासंस्कृतिः।
> एतस्या हृदये तया च भविता जन्मान्तराप्तिः पुनः
> सा मा भूदिति दीर्घदृष्टिरकरोदीशः स्वदृङ्मीलनम्॥

भगवान् तो भगवान् ही हैं। वे किसीका परम कल्याण करनेके लिये नेत्र बंद कर लें, खोल लें—दोनों ही ठीक हैं; परन्तु उनके नेत्र भी तो चिन्मय ही हैं न! उनका बंद होना और खुलना भी

कुछ-न-कुछ रहस्य रखता होगा! अवश्य। भगवान्‌के नेत्रोंने सोचा 'हम भगवान्‌के नेत्र हैं। हममेंसे ही एक सूर्यरूप होनेके कारण देवयानमार्ग है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हमारे ही द्वारा आत्मोचित गति प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थितिमें पूतना जैसी दुष्टा राक्षसीको—जो स्पष्टरूपसे शत्रुका हित करनेके लिये यहाँ आयी है—भगवान् कृपा करके चाहें तो उत्तम-से-उत्तम गति दे दें, हमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु हम तो उसे अपना मार्ग कभी न देंगे' यही सोचकर भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंने अपने द्वारपर पलकोंके किवाड़ लगा लिये। यह बात उचित भी है कि जो व्यक्ति किसीकी हिंसा करना चाहता है, वह चाहे आत्मीय-से-आत्मीय क्यों न हो, देखनेयोग्य नहीं है। तभी तो भगवान्‌के नेत्रोंने पूतनाके नेत्र न देखनेके लिये पलक गिरा लिये। महात्मा पुरुषोंके चित्तमें अयोग्य पुरुषोंको देखनेकी उत्कण्ठा नहीं हुआ करती। तभी तो भगवान्‌के नेत्ररूप राजहंसोंने बकासुरकी बहिन बनावटसे भरी पूतनाका मुँह नहीं देखा। श्रीहरिसूरि कहते हैं—

अनर्हवीक्षानुत्कण्ठा प्रसिद्धैव महात्मनाम्।
ईशाक्षिराजहंसाभ्यां युक्तं नैक्षि बकीमुखम्॥

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी माखन-चोरीके प्रसङ्गके बाद ही मिट्टी खानेकी कथा आती है। भगवान्‌ने मिट्टी क्यों खायी, इसका रहस्य श्रीहरिसूरि बतलाते हैं—

स्निग्धाज्यादिपदार्थभक्षणकृतः कुर्वन्ति तत्स्निग्धता-
शेषोन्मार्जनहेतवे निजकरे मृल्लेपनं सर्वतः।

आलोच्यैवमशिष्टशिष्टसरणिं श्रीशोऽपि तद्भक्षण-व्याजाद् विश्वमुखस्तदेव बहुधा सम्पादयामास किम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण देखते थे कि बड़े-बड़े सदाचारी शिष्ट पुरुष जब घी आदि स्निग्ध पदार्थोंका भोजन करते तो हाथकी चिकनाई मिटानेके लिये मिट्टी लगा लिया करते। भगवान्ने भी अभी-अभी मक्खन खाया है, इसलिये उसकी स्निग्धता मिटानेके लिये मिट्टी खा ली है। बचपनमें इसी प्रकार तो शिष्टाचारका अनुकरण होता है। परन्तु भगवान्में केवल बचपनकी ही बात हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता। इसमें कुछ-न-कुछ समझदारी भी अवश्य होगी। ठीक है, वैद्यलोग कहा करते हैं न कि 'विषस्य विषमौषधम्' विषकी दवा विष है। और विष है मिट्टीका ही विकार। तब मिट्टीका ही एक अंश उसके प्रभावका नाशक भी हो सकता है। सम्भव है, भगवान्ने यह सोचा हो कि 'मैंने पूतनाके स्तनका विष पी लिया है तो मिट्टी खाकर उसकी दवा कर लेनी चाहिये।' हो न हो, यही सोचकर उन्होंने मिट्टी खायी होगी। यही बात श्रीहरिसूरि कहते हैं—

पुरा विषमधायि यत् प्रबलपूतनास्तन्यगं
विधेयमिह तद् विषं भवति नष्टवीर्यं यथा ।
शिशुश्रियमुपाददे किमु विभुर्मृदंशादनाद्
विषस्य विषमौषधं भवति यद्भिषग्भाषितम् ॥

परन्तु भगवान् अपने लिये तो कुछ करते ही नहीं, सब कुछ भक्तोंके लिये ही करते हैं। तब उन्होंने मिट्टी खाकर भक्तोंकी कौन-सी इच्छा पूर्ण की? हाँ, वह भी सुनिये—

यत् स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद् योगिनां
प्राप्तं स्यात् किमु तद् रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम् ।
इत्थं भूरिनिजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते ॥

भगवान्‌के उदरमें रहनेवाले भक्त बार-बार इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि 'व्रजभूमिकी वह धूलि, जिसका सम्बन्ध गौओं और गोपियोंके चरणोंसे है, जिसे बड़े-बड़े देवता चाहते रहते हैं, दुष्ट कभी पा नहीं सकते और बड़े-बड़े योगी जिसका ध्यान करते रहते हैं, हमें भी मिल सकेगी क्या?' दयाके परम सागर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी यह अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये व्रजकी मिट्टी खाने लगते हैं कि किसी प्रकार यह रज उन भक्तोंतक पहुँच जाय। एक बात और है। भगवान् श्रीकृष्ण सम हैं, परम शान्त हैं, अपने स्वरूपमें ही एकरस विराजमान हैं। ऐसी स्थितिमें वे किसीकी रक्षा और किसीका दमन कैसे करें? हाँ, इसीलिये उन्हें सत्त्वगुण और रजोगुण अपनाने पड़ते हैं। सत्त्वगुण तो सदा-सर्वदा उनकी सेवामें हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अब दुष्टोंके दमनके लिये रजोगुणकी आवश्यकता है। उसीका भगवान् व्रजकी रजके रूपमें संग्रह कर रहे हैं। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें—

नानाविधं बहु रजोगुणकार्यमग्रे
कर्तव्यमस्ति मम चेति विचिन्त्य कृष्णः ।
मृत्स्नानुभक्षणमिषात् प्रकृतोपयुक्तं
प्रायो रजोगुणसुसंग्रहणं चकार ॥

अजी, इतना सोचनेकी क्या आवश्यकता है ? सीधी-सी बात है। पृथ्वीका एक नाम है 'रसा'। इसमें ऐसा कौन-सा रस है कि इसका नाम 'रसा' पड़ा है ? सम्भव है, भगवान्‌ने उसी रसकी परीक्षा करनेके लिये मिट्टीका रस चखा हो। यह तो ठीक है ही, संस्कृतमें पृथ्वीका एक नाम 'क्षमा' भी है। मिट्टी खानेका अर्थ क्षमाको अपनाना है। इस समय इसकी क्या आवश्यकता आ पड़ी थी ? श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें सुनिये—

विश्रृङ्खलविहारिणो मदवमानचेष्टाजुषो
भवन्ति शिशवोऽखिला अपि तदत्र मत्क्रीडनम्।
क्षमांशविधृतिं विना न हि भवेत् स्वभक्तेष्विति
प्रभुः किमु चकार तत्कृतितया क्षमाधारणम्॥

बात यह है कि भगवान्‌के साथ खेलनेवाले ग्वालबाल बिना किसी मर्यादाके मनमाने खेल खेला करते थे। कभी-कभी तो वे भगवान्‌के सम्मान और अपमानका ध्यान भी भूल जाया करते थे और भगवान्‌को उन्हींके साथ खेलना था। तब पृथ्वीसे मिट्टीके रूपमें क्षमा ग्रहण किये बिना वे उनके साथ कैसे खेल पाते ? अवश्य ही उन्होंने इसीलिये मिट्टी खायी होगी ! केवल इतना ही नहीं, भगवान्‌की दृष्टि भविष्यकी ओर भी अवश्य ही रही होगी। अभी-अभी अपनी माँको अपने मुँहके भीतर ही सारे विश्वकी सृष्टि कर दिखायेंगे ! तब वह विश्वसृष्टि रजोगुणके बिना कैसे बन सकेगी ? अवश्य उसीका आयोजन करनेके लिये आप व्रजकी रज संग्रह कर रहे हैं। धन्य है।

ऐसी-ऐसी अनेक उत्प्रेक्षाएँ करनेपर भी श्रीहरिसूरिको सन्तोष नहीं होता। वे कहते हैं—

मय्येव सर्वार्पितभावना ये
मान्या हि ते मे त्विति किं नु वाच्यम्।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्यात्
इत्यच्युतोऽधात् स्फुटमात्तरेणुः ॥

भगवान् व्रज-रजका सेवन करके यह बात दिखला रहे हैं कि जिन भक्तोंने मुझे अपनी सारी भावनाएँ और सारे कर्म समर्पित कर रक्खे हैं, वे मेरे सर्वथा मान्य हैं। केवल इतना ही नहीं, उनके चरणोंकी धूलि भी मेरे लिये एक प्रधान वस्तु और मुखमें धारण करनेयोग्य है। वास्तवमें भगवान्की भक्तवत्सलता ऐसी ही है। उनकी एक-एक लीलासे भक्तोंके प्रति परम प्रेम और करुणाके भाव व्यक्त होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ वनमें कलेवा कर रहे थे। उनके चारों ओर गोल-गोल पंक्तियाँ बनाकर ग्वाल-बाल भी तरह-तरहकी वस्तुओंका स्वाद ले रहे थे। उसी समय यकायक सब-के-सब बछड़े आँखोंसे ओझल हो गये। जो ग्वालबाल बछड़ोंकी सुध-बुध खोकर खाने–खिलानेके खेलमें मस्त हो रहे थे, उन्हींके सिरपर चिन्ताके बादल मँडराने लगे। भगवान्ने उनके कलेवेमें विघ्न न पड़ने देकर स्वयं बछड़ोंको ढूँढ़नेके लिये अपना भोजन छोड़ दिया और वनकी यात्रा की। इस लीलाका रहस्य बतलाते हुए श्रीहरिसूरि कहते हैं—

ये मद्भक्तिरसैकलुब्धमनसस्तेषां कदाचित् सता-
मत्ताणि भ्रमतो दुरन्तविषये मग्नानि जातानि चेत्।
त्यक्त्वा भोज्यमहं स्वमप्यतिजवात् संशोधयामि स्वतः
तद्भीतिं च निवारयन्निति तथा कृत्वाऽच्युतोऽदर्शयत् ॥

भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है कि 'जो सत्पुरुष निरन्तर मेरी प्रेमा भक्तिके रसास्वादनमें ही मग्न रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ यदि कभी विषयोंमें भटक जाती हैं और उनका पार पाना कठिन हो जाता है तब मैं और तो क्या, अपना भोजन भी छोड़कर अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़ पड़ता हूँ और उनका भय मिटाकर सर्वदाके लिये उन्हें शुद्ध कर देता हूँ।' सच पूछो तो ग्वालबालोंके कलेवेमें कोई विघ्न-बाधा न पड़ने देकर बछड़ोंकी रक्षाके लिये दौड़ना उनकी लीलाका यही रहस्य प्रकट करता है। इस प्रसङ्गमें एक बात ध्यान देनेकी है। जिस समय भगवान् बछड़ोंको ढूँढ़नेके लिये चले उन्होंने और सारी वस्तुएँ तो पत्तलपर ही छोड़ दीं, केवल भातका ग्रास लिये हुए दौड़े। इसका कारण क्या है? संस्कृत भाषामें भातको 'भक्त' कहते हैं। भगवान्‌ने अपने हाथमें भातका ग्रास रखकर यह भाव प्रकट किया कि मैं समयपर सब कुछ छोड़ सकता हूँ—और तो क्या, अपनी प्रियतमा लक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु किसी भी कारणसे अपने प्रेमी और प्रियतम भक्तका परित्याग नहीं कर सकता। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें ही सुनिये—

सर्वं त्यजामि समये बहुना किं प्रियामपि।
सदाऽऽशयगतं भक्तं न कदापीत्यगात्तथा॥

श्रीहरिसूरिरचित 'भक्तिरसायन' के आरम्भिक अध्यायोंके कुछ अंशोंकी थोड़ी-सी सूक्तियाँ ऊपर संगृहीत की गयी हैं। उनके उनचास अध्यायोंमेंसे बहुत-से अध्याय तो ऐसे हैं, जिनमें चार-चार सौ तक बड़े-बड़े श्लोक हैं। यदि उनका सारांश भी लिखा जाय तो

एक बड़ी-सी पुस्तक तैयार हो सकती है। कहीं वे एक ही शब्दमें अनेकों प्रकारके सन्धि-विच्छेद करके विभिन्न अर्थ करते हैं तो कहीं घटनाक्रमसे भाँति-भाँतिकी शिक्षा ग्रहण करते हैं तो कहीं अध्याय-के-अध्याय किसी विशेष योग-क्रियाके वर्णनमें लगा देते हैं। श्लेष, युक्ति, साधना और समाधिके विशेष अङ्गोंका वर्णन-सौन्दर्य स्थान-स्थानपर दृष्टिगोचर होता है। उनके एक-एक श्लोकसे यह बात प्रकट होती है कि वे श्रीमद्भागवतके गम्भीर-से-गम्भीर स्तरमें भी प्रवेश कर जाते हैं और वहाँसे सूक्ष्मतम भाव ढूँढ़ लाते हैं। स्थान-संकोचके कारण यहाँ बहुत थोड़ी बातें लिखी गयी हैं।

श्रीराधा-नाम

भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी सर्वथा अभिन्न और एक ही हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधास्वरूप हैं और श्रीराधा श्रीकृष्णस्वरूप। 'कृ' राधा है और 'ष्ण' कृष्ण। यहाँतक कि 'कृ' में भी 'क' कृष्ण हैं, 'ऋ' राधा। वैसे ही 'राधा' के सम्बन्धमें भी है। किसी भी समय, किसी भी देशमें, किसी भी निमित्तसे और किसी भी रूपमें श्रीराधाकृष्णका पार्थक्य सम्भव नहीं है। एक ही अर्थके दो शब्द हैं, एक ही वस्तुके दो नाम हैं। जब उनमें देश, समय और वस्तुकृत भेद ही नहीं है तो यह बात कैसे कही जा सकती है कि वे दोनों दो हैं? यही कारण है कि श्रीकृष्णकी लीला श्रीराधाकी लीला है और श्रीराधाकी लीला श्रीकृष्णकी। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि अमुक ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी लीला है, श्रीराधाकी नहीं, अथवा श्रीराधाकी लीला है, श्रीकृष्णकी नहीं, सर्वथा असङ्गत है। श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात है।

भगवान् श्रीकृष्णकी अथवा भगवती श्रीराधाकी एकता होनेपर भी अनेकता है। भेदमें अभेद और अभेदमें भेद—यही लीलाका स्वरूप है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह लीला प्राकृत नहीं है। देश, काल और वस्तुओंके भेदकी समाप्ति तो मनके साथ ही हो जाती है। जब विशुद्ध ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होता है, तब उसके साथ ही अज्ञानस्वरूप अथवा अज्ञानकार्य प्रकृतिका भी

आत्यन्तिक लय हो जाता है। उस समय केवल विज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही अवशेष रहता है। यद्यपि यह ब्रह्म विशुद्ध तत्त्व है, तथापि प्रकृतिके लयके बादकी स्थिति होनेके कारण तुरीयके नामसे कहा जाता है। जैसे प्रकृति जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप है, वैसे ही ब्रह्म तुरीयस्वरूप है। ब्रह्ममें अवस्थाएँ नहीं हैं और अवस्थाएँ ब्रह्म नहीं हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर ब्रह्म भी एक अवस्था ही सिद्ध होता है। इस ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थित हो गये हैं, उनके लिये भी कदाचित् श्रीराधाकृष्णकी लीला अनुभवका विषय नहीं है; क्योंकि ब्रह्म तो जाग्रत् आदिकी अपेक्षासे तुरीय स्थिति है और श्रीराधाकृष्णमें द्वितीय, तृतीय, तुरीयका कोई भेद नहीं है। वे सर्वातीत और सर्वस्वरूप हैं। उनके नाम, धाम, रूप और लीला—सब-के-सब विशुद्ध चेतन हैं। वहाँ किसी भी रूपमें जड़ वस्तुओंका प्रवेश नहीं है। वहाँ भगवान् श्रीराधाकृष्ण ही विभिन्न नाम, रूप और धाम होकर विभिन्न लीलाएँ बनते रहते हैं। हमारी भाषामें जो एक क्षण श्रीराधा हैं, वही दूसरे क्षण श्रीकृष्ण हैं। जो अब श्रीकृष्ण हैं, वही दूसरे क्षण श्रीराधा हैं। वह अपने स्वरूपमें ही दो-से बनकर विहार करते रहते हैं, परन्तु अपनेसे भिन्न दूसरेको कोई भी पहचानता नहीं। यही बात श्रीध्रुवदासजीने अपने एक पदमें कही है—'**न आदि न अंत, बिहार करैं दोउ, लाल प्रियामें भई न चिन्हारी।**' श्रीसूरदासजी भी इन्हींके स्वर में-स्वर मिलाते हैं—

सदा एकरस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत, बिहरत जुगल सरूप॥

श्रीमद्भागवतमें श्रीराधा-नामका उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह प्रश्न उठाते समय भगवान् श्रीराधाकृष्णके स्वरूपपर विचार कर लेना चाहिये। भला, यह भी कभी सम्भव है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी लीलाओंका तो वर्णन हो और श्रीराधाजीकी लीलाओंका न हो? भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनकी सत्-शक्तिसे कर्म-लीला, चित्-शक्तिसे ज्ञान-लीला और आनन्द-शक्तिसे विहार-लीला सम्पन्न होती है। यदि किसी भी ग्रन्थमें भगवान्की विहार-लीलाका वर्णन नहीं होता, तो समझना चाहिये कि उस ग्रन्थमें भगवान्के आनन्दांशका वर्णन नहीं हुआ है। श्रीमद्भागवत एक पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उनकी आनन्द-प्रधान विहार-लीलाका भी पूर्णतः वर्णन है। एक नहीं, अनेक अध्यायोंमें गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर-लीलाका अत्यन्त सरसताके साथ उल्लेख किया गया है। वेणुगीत, युगलगीत कुरुक्षेत्रका प्रसङ्ग और सबसे बढ़कर रास-लीलामें तो आठ प्रधान गोपियों और उनमें एक श्रेष्ठ गोपीका भी सुन्दर वर्णन है। इस प्रकार देखते हैं तो मालूम होता है कि श्रीमद्भागवतमें भगवान्की देश, काल और वस्तुसे परे होनेवाली अप्राकृत मधुर-लीलाका स्पष्टतः उल्लेख है और उसमें गोपियों तथा श्रीराधाजीका भी वर्णन है। जब श्रीमद्भागवतमें उनकी लीलाका वर्णन है ही, तब श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम नहीं है—यह कहकर श्रीमद्भागवतसे श्रीराधाजी की लीला उड़ायी तो नहीं जा सकती। और इस बातका तो स्वयं ही खण्डन हो जाता है कि श्रीमद्भागवतकी रचनाके समय श्रीयुगल

सरकारकी आराधना प्रचलित नहीं थी। इसका निष्कर्ष यह है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीराधातत्त्वका स्पष्ट वर्णन है और श्रीमद्भागवतमें ही क्यों, उपनिषदोंमें भी गान्धर्वी आदि विभिन्न नामोंसे उन्हींके सुयशका सङ्कीर्तन है। रासलीलाके प्रसङ्गमें अन्य समस्त गोपियोंको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रधान गोपीको एकान्तमें ले गये, अन्ततः उसका कुछ नाम तो होना ही चाहिये।

जब यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका वर्णन है, तब प्रश्न यह रह जाता है कि फिर उनका नाम क्यों नहीं दिया गया? परन्तु यह प्रश्न भी निर्मूल है। क्योंकि श्रीमद्भागवतमें वर्णित अन्य गोपियोंका नामोल्लेख भी तो वहाँ नहीं है। जब किसी भी गोपीका नाम नहीं हैं, तब श्रीमद्भागवतकारकी यह शैली स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि वे जान-बूझकर किसी भी गोपी या श्रीराधाजीका नाम नहीं लिखना चाहते। जब वस्तुका वर्णन है, तब नाम होना और न होना दोनों ही समान हैं। इस प्रकार कोई भी वस्तुका तो खण्डन कर सकता नहीं; रही बात नामके सम्बन्धमें विकल्पकी, सो दूसरे पुराणोंसे निश्चित हो ही जाती है।

अवश्य ही इस प्रश्नके लिये अवकाश हैं कि श्रीमद्भागवतकारने किस अभिप्रायसे ऐसी शैली अपनायी, जिससे श्रीमद्भागवतमें किसी भी गोपी और श्रीराधाजीका नामोल्लेख न हो सका? परन्तु इस प्रश्नमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह परबुद्धिविषयक है। कोई साधारण पुरुष भी जब ऐसा काम करने लगता है जिसका उद्देश्य वह न बताये, तब दूसरे लोग उसके सम्बन्धमें तरह-तरहके करने

लगते हैं और जो बात उसके मनमें नहीं होती, उसकी भी कल्पना कर लेते हैं। सम्भव है, उनमेंसे कोई चतुर पुरुष उनके चित्तका ठीक-ठीक अनुमान कर भी ले, परन्तु होता है वह कोरा अनुमान ही। भगवान् व्यास अथवा श्रीशुकदेवजी महाराज अनन्त ज्ञानसम्पन्न हैं। उनकी बुद्धि अगाध है; वे किस उद्देश्यसे कौन-सा काम करते हैं—यह वे ही समझ सकते हैं या जिसे वे कृपा करके समझा दें, वह। ऐसी स्थितिमें उन्होंने किस अभिप्रायसे श्रीराधाजी और गोपियोंका नामोल्लेख नहीं किया, इस प्रश्नका उत्तर या तो उनकी कृपासे ही प्राप्त हो सकता है अथवा केवल अपने या दूसरेके अनुमानपर सन्तोष कर लेनेसे।

फिर भी सहृदय एवं भावुक भक्त श्रीशुकदेवजीकी भावनाके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ सोचते ही हैं। महात्माओंसे ऐसा सुना जाता है कि श्रीशुकदेवजी महाराज श्रीराधाजीके महलमें ही लीलाशुक (तोते) के रूपमें रहते थे और उनकी लीलाके दर्शनमें मुग्ध रहते थे। ऐसे श्रीजीके अनन्य लीलाप्रेमी वक्ता थे और श्रीपरीक्षितजी भी उनके वैसे ही प्रेमी श्रोता। यदि उनके कानोंमें उस समय श्रीराधाजीका नाम पड़ जाता, तो वे इतने भावमुग्ध हो जाते कि आगेकी कथा बंद हो जाती और महीनोंतक वे समाधिस्थ ही रह जाते। परन्तु समय केवल सात दिनका ही था यही सोचकर श्रीशुकदेव मुनिने श्रीराधानामका उच्चारण नहीं किया। इस सम्बन्धमें एक श्लोक प्रसिद्ध है—

श्रीराधानाममात्रेण मूर्च्छा षाण्मासिकी भवेत् ।
नोच्चारितमतः स्पष्टं परीक्षिद्धितकृन्मुनिः ॥

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव मुनिने भगवती श्रीराधाका नामोच्चारण क्यों नहीं किया, इसके सम्बन्धमें श्रीव्रजधामके परम रसिक संत श्रीव्यासजीका एक पद है—

परमधन श्रीराधा नाम अधार ।
जाहि स्याम मुरली में टेरत सुमिरत बारंबार ॥
जंत्र मंत्र औ वेद तंत्र में सबै तार कौ तार ।
श्रीसुकदेव प्रगट नहिं भाख्या जानि सार कौ सार ॥
कोटिक रूप धरे नँदनंदन तऊ न पायौ पार ।
'व्यासदास' अब प्रगट बखानत डारि भार में भार ॥

अभिप्राय यह कि श्रीराधाजीका नाम तारकका भी तारक एवं श्रीकृष्ण-नामसे भी गोपनीय है; क्योंकि श्रीराधानाम भगवान् श्रीकृष्णके जीवनका भी आधार और आत्मा है । पद्मपुराणमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और उनके साथ विहार करनेके कारण ही श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्माराम इति प्रोक्त ऋषिभिर्गूढवेदिभिः ॥

श्रीकृष्णकी आत्मा राधिका और श्रीराधिकाके आत्मा श्रीकृष्ण हैं। दोनोंमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। पुराणोंमें स्पष्टरूपसे ऐसे वचन मिलते हैं, जिनमें श्रीराधाकृष्णमें भेद देखनेवालेको नरककी प्राप्ति बतलायी है। इसलिये श्रीकृष्णके नाममें श्रीराधाका नाम और श्रीराधाके नाममें श्रीकृष्णका नाम अन्तर्भूत है। कहाँ किसके नामका उल्लेख है और कहाँ नहीं है, इस झगड़ेमें न पड़कर किसी भी नामका आश्रय लेना चाहिये और अपने जीवन, प्राण, मन तथा आत्माको श्रीराधाकृष्णमय बना देना चाहिये।

भक्तिरसकी पाँच धाराएँ

भक्ति साधारणतः दो प्रकारकी मानी गयी है—एक साधन-भक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। पहलीका स्वरूप है भगवान्‌के भजनकी साधना, अर्थात् भजन होने लगे—इसके लिये प्रयत्न। दूसरीका स्वरूप है, भगवान्‌का साक्षात् भजन, सेवन, उनकी सन्निधि और उनसे एकत्व। पहलीको वैधी भक्ति कहते हैं और दूसरीको रागानुगा, प्रेमलक्षणा अथवा परा भक्ति। भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं, इसलिये जब जीवका, अथवा जीवकी वृत्तियोंका भगवान्‌से संयोग होता है, तब एक अनिर्वचनीय रसकी अनुभूति होती है। यदि दूसरी शैलीसे कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्त द्रवित होकर भगवदाकार हो जाता है, तब वास्तविक रसकी निष्पत्ति होती है। चित्त तो विषयोंके लिये भी द्रवित होता है और उसके साथ तदाकार भी हो जाता है; परन्तु इस तदाकारतामें स्थायित्व नहीं होता, क्योंकि वे विषय ही अस्थायी हैं, जिनके आकारमें चित्त परिणत हुआ है। इसलिये चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर दूसरे विषयके लिये द्रवित होता है और फिर तीसरेके लिये। इसीका नाम संसार-चक्र है, जिसकी गति-परम्परा तबतक शान्त नहीं हो सकती जबतक चित्तको इनसे सर्वथा मुक्त न कर दिया जाय। परन्तु जब एक बार चित्त भगवदाकार हो जाता है तब वहाँ किसी प्रकारके अभावका अनुभव न करनेके कारण पुनः किसी दूसरे आकारमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। चित्त

सर्वदाके लिये उसी रसमें डूब जाता है, उसी रससे एक हो जाता है। इस रसकी उपलब्धिके लिये प्रयत्न साधनभक्ति है और इस रसकी अनुभूति साध्य-भक्ति है।

वैसे तो भगवान्‌के साथ जिस सम्बन्धको लेकर चित्त द्रवित हो जाय—गङ्गाकी धारा जिस प्रकार अखण्ड रूपसे समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही जब चित्त एकमात्र भगवान्‌की ओर ही प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है; क्योंकि चित्तकी द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसारके लिये है तो विषयकी क्षणिकताके कारण 'रसाभास' है और यदि भगवान्‌के लिये है तो उनकी रसरूपताके कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसीको रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें भक्ति-रस कहा गया है। इस भक्तिरसके पाँच प्रकार अथवा पाँच अवान्तर भेद स्वीकार किये गये हैं। वे एक दृष्टिसे तो सब-के-सब परिपूर्ण ही हैं, परन्तु दूसरी दृष्टिसे एककी गाढ़ अवस्था दूसरेके रूपमें परिणत हो जाती है। शान्तका दास्यके रूपमें, सख्यका वात्सल्यके रूपमें, वात्सल्यका माधुर्य-रसके रूपमें परिणाम होता है। इस मतमें मधुररस ही रसका चरम उत्कर्ष है। कोई-कोई सहृदय पुरुष शान्तमें सबका परिणाम मानते हैं और कोई-कोई दास्यरसमें। ऐसे भी आचार्य हैं जो इनको भाव, आसक्ति अथवा स्थायी रति मानते हैं और इनके द्वारा एक महान् भक्ति-रसकी परिपुष्टि मानते हैं। दृष्टिभेद से ये सभी मत सत्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि जिस भावका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है उसका स्वरूप चाहे जो भी हो, वह पूर्ण रस है। यहाँ इन पाँचोंका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

(१) ✓
शान्तरस

जैसा कि रसोंके प्रसङ्ग में वर्णन आता है, रसकी अनुभूति एक प्रक्रिया है। आलम्बन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, सञ्चारी एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा व्यक्त होनेवाला स्थायिभाव ही रस होता है। जिसको शान्त-रस कहा जाता है, उसके अनुभवकी भी यही प्रणाली है। इसका स्थायिभाव शान्ति-रति है। इस भावमें भगवान्के संयोग-सुखका आस्वादन होता है। यद्यपि परमात्माके निर्गुण स्वरूपमें स्थिति भी शान्त-रसका ही एक स्वरूप मानी जाती है, तथापि यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग होनेके कारण सगुण भगवान्की अनुभूतिको ही शान्त-रसके रूपमें समझना चाहिये। निर्गुण स्थितिमें किसी प्रकारका आस्वादन न होनेके कारण और सगुण-भक्तिके आस्वादनात्मक होनेके कारण दोनोंकी विलक्षणता स्पष्ट है। इस शान्त भक्ति-रसके आलम्बन सगुण परमात्मा हैं। उनका स्वरूप ही—वह चाहे निराकार हो या साकार चतुर्भुज हो या द्विभुज—इस रसका आलम्बन-विभाव है। इसमें दास्य आदि भावोंके समान लीलाकी विशेषता नहीं है। भगवान्का स्वरूप सच्चिदानन्दघन है, वे सर्वदा अपने-आपमें ही स्थित रहते हैं। वे समस्त शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र हैं, सब पवित्रताओंके एकमात्र उद्गम हैं, जगत्की निखिल वस्तुओंके एकमात्र नियामक हैं। वे सबके कर्त्ता, भर्त्ता, संहर्त्ता हैं। सबके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हैं। ये व्यापक प्रभु ही चाहे साकाररूपमें अथवा निराकाररूपमें, अपने इष्टदेवरूपसे हृदयमें स्फुरित हुआ करते हैं। निखिल जीव और जगद्रूपी तरङ्गोंके समुद्र ये भगवान् जिस जीवके भावनेत्रोंके सामने

प्रकट हो जाते हैं, उसका मन सांसारिक विषयोंकी तो बात ही क्या, मोक्षसुखका भी परित्याग करके इनके चरणोंमें आ समाता है।

शान्तरसके उपासक प्रायः दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे आत्माराम पुरुष जो भगवान् या उनके प्रिय भक्तोंकी करुणादृष्टिसे भगवान्‌की ओर आकर्षित हुए हैं। दूसरे वे साधक जिनका ऐसा विश्वास है कि भगवान्‌की भक्तिसे ही परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। आत्माराम भक्तोंमें सनक सनन्दनादि का नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ये पाँच वर्षकी अवस्थाके गौर वर्ण नग्न और प्रायः साथ ही रहनेवाले चारों अत्यन्त तेजस्वी हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जब वे वैकुण्ठधाममें गये तो भगवान्‌के चरणकमलोंकी सुगन्धसे इनका वह चित्त जो अक्षरब्रह्ममें स्थित था, खिंच गया। इनका चित्त द्रवित हो गया और शरीरमें सात्त्विक भावके चिह्न प्रकट हो गये। श्रीरूपगोस्वामीने इनके भावोंका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत् सुखम्।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युते-
र्मुकुन्द सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥

'हे प्रभो! तुम्हारे निर्गुण और इन्द्रियोंके अगोचर स्वरूपमें तभी तक अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता था, जबतक तुम्हारी इस अद्भुत मूर्तिका जो नवीन तमालके समान नीलकान्ति वाली है, सच्चिदानन्दमय साक्षात्कार नहीं हुआ था।' तात्पर्य यह कि

भगवान्की आनन्दघन रूपराशिपर मुग्ध होकर ये आत्मसुखका परित्याग करके भगवान्की रूपमाधुरीका पान कर रहे हैं। इसी प्रकार परम तत्त्वज्ञानी राजा जनक भगवान् रामके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसीमें रम जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

जिन साधकोंका यह निश्चय है कि भगवान्की भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है, जो विरक्त होकर प्राणपणसे साधनामें संलग्न हैं, जिनकी मुमुक्षा अभी शान्त नहीं हुई है, वे शान्त-रसके तपस्वी उपासक हैं। आत्माराम भक्तोंकी कृपा और प्रेरणासे ही इनके हृदयमें शान्तरसका अनुभव हुआ करता है। एक साधक कितनी सुन्दर अभिलाषा करता है—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसतिः
वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥

'पर्वतकी कन्दरामें, अथवा विशाल वृक्षकी छायामें निवास करता हुआ मैं केवल कौपीन पहने हुए, फलमूलका भोजन करते हुए और हृदयमें बार-बार चिदानन्दमय श्यामज्योति भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए अपने जीवनकी बहुत-सी रात्रियोंको एक क्षणके समान कब व्यतीत कर दूँगा? मेरे जीवनमें ऐसा शुभ अवसर कब आयगा?' ऐसे जीवनकी अभिलाषा ही इस प्रकारके जीवनकी जननी है, जिसमें शान्त-रसकी भक्ति पूर्ण होती है।

शान्तरसके उद्दीपन विभाव जिनसे शान्तरसकी पुष्टि होती है, दो प्रकारके होते हैं—एक तो असाधारण और दूसरे साधारण। असाधारण विभाव निम्नलिखित हैं—

(१) उपनिषद्, दर्शन और पुराणोंका तथा उन ग्रन्थोंका श्रवण, कीर्तन मनन, स्वाध्याय जिनमें भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, गुण, रहस्य और महिमाका वर्णन है।

(२) उस पवित्र एकान्त स्थानका सेवन जिसमें चित्त एकाग्र होता है।

(३) शुद्ध सत्त्वमय चित्तमें निरन्तर भगवान् की स्फूर्ति।

(४) भगवान्, जीव और जगत्‌के स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् विवेचन और उनके सम्बन्धोंका निर्णय।

(५) भगवान्‌में ज्ञान-शक्तिकी प्रधानताका अङ्गीकार और अपने जीवनकी प्रगति भी ज्ञानानुसारिणी।

(६) सम्पूर्ण विश्वको भगवान्‌का व्यक्त रूप समझना और व्यवहारमें उनके दर्शनकी चेष्टा करना।

(७) ज्ञानप्रधान भक्तोंका सत्सङ्ग करना और अपने ही समान रुचि रखनेवाले साधकोंके साथ भगवान् और उनकी भक्तिके सम्बन्धमें चर्चा करना।

इनके अतिरिक्त साधारण उद्दीपन भी बहुत-से होते हैं। यथा—

(१) भगवान्‌की पूजाके पुष्प, तुलसी, नैवेद्य आदि प्राप्त करके मुग्ध होना।

(२) भगवान्‌की पूजाके शंख, घण्टा, आरती, स्तुति आदिके पाठकी ध्वनि सुनना।

(३) पवित्र पर्वत, सुन्दर जङ्गल, सिद्ध क्षेत्र और गङ्गा आदि नदियोंका सेवन।

(४) संसारके भोगोंकी क्षणभङ्गुरताका विचार।

(५) संसारकी समस्त वस्तुएँ, अपना जीवन भी मृत्युग्रस्त है—यह विचार इत्यादि।

हृदयमें शान्तरसका उन्मेष होनेपर बहुत प्रकारके साधारण और असाधारण चिह्न उदय हो जाते हैं, उनको अनुभाव कहते हैं। यथा—

(१) आँखोंका बन्द रहना, नासाग्रपर, भ्रूमध्यपर अथवा निरालम्ब ही स्थिर रहना।

(२) व्यवहारका विशेष ध्यान नहीं रहना।

(३) चलते समय बहुत इधर-उधर नहीं देखना, सामने चार हाथ तक देखना।

(४) स्थिर, धीर, गम्भीर भावसे बैठे रहना, ज्ञानमुद्राका अवलम्बन।

(५) भगवान्‌के प्रति द्वेषभाव रखनेवालेसे भी द्वेष न करना तथा प्रेमभाव रखनेवालेसे भी अत्यन्त प्रेम न करना।

(६) सिद्ध-अवस्था अथवा जीवन्मुक्तिके प्रति आदर भाव।

(७) किसीकी अपेक्षा नहीं रखना, किसीसे ममता नहीं करना और कभी अहङ्कारका भाव नहीं आना।

(८) संसार और व्यवहारके सम्बन्धमें स्फुरणाका न होना और बहुत कम वार्तालाप करना इत्यादि।

इनके अतिरिक्त साधारण अनुभाव भी प्रकट होते हैं। यथा—

(१) बार-बार भगवान्‌को नमस्कार करते रहना।

(२) सत्सङ्गियोंको भगवद्भक्तिका उपदेश करना।

(३) भक्तोंके साथ भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना आदि करना।

(४) भावोदय होनेपर जमुहाई आना, शरीर तोड़ना आदि।

शान्तरसके उदय होनेपर सात्त्विक भावोंका भी प्रकाश होता है। परन्तु इस रसके उपासक प्रायः शरीरसे ऊपर उठे रहते हैं और बड़ी सावधानीके साथ शरीर-भावसे अपनी रक्षा करते हैं। इसलिये इनके हृदयमें तो समस्त सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। परन्तु शरीरमें रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि कुछ थोड़े-से ही प्रकट होते हैं। प्रलय, उन्माद और मृत्यु आदि सात्त्विक भाव प्रायः इनके शरीरमें नहीं देखे जाते। संसारके प्रति निर्वेद (वैराग्य), विपत्ति आनेपर धैर्य, भगवद्भक्तके मिलनसे हर्ष, विस्मरणसे विषाद तथा

और भी बहुत-से सञ्चारी भाव शान्तरसके पोषक हैं। शान्तरसका स्थायिभाव शान्तिरति है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यह दो प्रकारकी होती है—एक समा और दूसरी सान्द्रा। जब मन वृत्तिशून्य होकर ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है, असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है, तब कहीं यदि उस समाधिमें भगवान् प्रकट हो जायँ और उनको देखकर योगीका चित्त प्रेममुग्ध हो जाय, तो इसको शान्तरसकी समरति कहेंगे। समस्त अज्ञानके ध्वंस हो जानेपर निर्विकल्प समाधिमें जो एकरस निर्विशेष अनन्तके रूपमें अनुभव होता है, वही तो उस अनन्त आनन्दको भी अनन्तगुना बनाकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके रूपमें प्रकट हुआ है। इस प्रकारकी अनुभूति सान्द्र शान्तिरतिके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्के साक्षात्कारके लिये उत्सुकता और साक्षात्कार—दोनों स्थितियाँ इस रसके अन्तर्गत हैं।

शान्तरस साहित्यिकोंके मतमें भी सर्ववादिसम्मत रस है। नाट्यशास्त्रके आचार्योंने शान्तको इसलिये रस नहीं माना है कि शान्तिरति निर्विकार है। रंगमञ्चपर किसी भावभंगीके द्वारा उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है; परन्तु काव्य एवं भक्ति-साहित्यमें इसका साक्षात्कार होनेके कारण इसकी रसता निर्विवाद सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें शमकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'मुझमें परिनिष्ठित बुद्धिका नाम शम है।' यदि शान्तिको रतिके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय, तो इस निष्ठाकी उपपत्ति कैसे हो सकती है? श्रीविष्णु-धर्मोत्तरपुराणमें शान्तरसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ।
समः सर्वेषु भुतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥

'जिसमें न सुख है और न तो दुःख, न द्वेष है और न तो मात्सर्य, जो समस्त प्राणियोंमें समभाव है, वही शान्तरसके नामसे प्रसिद्ध है।' इस शान्तरसमें और सम्पूर्ण रसोंका अन्तर्भाव हो सकता है। वीर, करुणा श्रृङ्गार आदि रस परिणत होते हुए, जब अहङ्कारसे नितान्त रहित हो जाते हैं, तो शान्तरसमें उनका पर्यवसान हो जाता है। इस रसका स्थायिभाव शान्तिरति है, इसमें पूर्वाचार्योंका मतभेद है। किसी-किसीके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव रति है। व्यवहारमें चाहे जैसी भी घटना घट जाय, किन्तु रति अविचलित रहे, यही शान्तरसका पूर्वरूप स्थायिभाव है। कोई-कोई कहते हैं—शान्तरसका स्थायिभाव निर्वेद है। निर्वेद दो प्रकारका होता है। एक तो अनिष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे और अनिष्ट वस्तुके संयोगसे होता है। यह स्थायिभाव नहीं हो सकता, यह व्यभिचारी भाव है। परन्तु तत्त्वज्ञानके उदयसे जो जागतिक विषयोंके प्रति सहज निर्वेद है, वह शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है। शान्तरसका स्थायिभाव चाहे शान्तरति हो, धृति हो अथवा निर्वेद हो—इनमेंसे किसीके द्वारा साधकके चित्तमें शान्तरसका उद्रेक होना चाहिये। शान्तरसका उन्मेष होनेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव होने लगता है और इससे बढ़कर जीवके लिये सौभाग्यकी और कौन-सी बात हो सकती है? जहाँ तक शान्तरसकी गति और स्थिति है, वहाँ तक पहुँचनेपर ही जाना जा सकता है कि इसके बाद भी कोई स्थिति है या नहीं। इसलिये सम्पूर्ण शक्तिसे इस शान्तरसका ही अनुभव करना चाहिये।

(२)

दास्यरस

दास्यरसका स्थायिभाव प्रीति है। यही जब आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, सात्त्विक भाव आदिमें सुपुष्ट और व्यक्त होता है, तब दास्यरसके नामसे कहा जाता है। कुछ लोग इसको प्रीतिभक्तिरस कहते हैं। कई आचार्योंने इसे शान्तरसके अन्तर्गत ही माना है। परन्तु उसकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता अवश्य है। शान्तरसमें स्वरूप-चिन्तनकी प्रधानता है, दास्यरसमें ऐश्वर्यचिन्तनकी। दास्यरसके दो भेद माने गये हैं—एक तो सम्भ्रमजनित दास्य और दूसरा गौरवजनित दास्य। सम्भ्रमजनित दास्य वह है, जिसमें साधक भगवान्के अनन्त ऐश्वर्य, प्रभाव, महत्त्व, शक्ति, प्रतिष्ठा, गुणोंका आधिक्य और चरित्रकी अलौकिकता आदि देखकर, जानकर अपने सेव्यके रूपमें प्रभुका वरण कर लेता है और उनकी सेवाके रसमें ही अपनेको डुबा देता है। गौरव-प्रीतिरस वह है जिसमें भगवान्के साथ कोई गौरव सम्बन्ध रहता है। जैसे भगवान्के पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब आदि गुरुबुद्धिसे भगवान्की सेवा किया करते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दास्यरसके आलम्बन भगवान् सगुण ही होते हैं। यद्यपि निराकार भगवान्के आज्ञापालनके रूपमें वेदोक्त सदाचारका अनुष्ठान और विश्व-सेवाकार्यके द्वारा भी दास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। इस व्यक्त जगत्को भगवान्का रूप समझकर इसकी सेवा करना भी दास्यरसके अन्तर्गत हो सकता है, तथापि रसिक भक्तोंने सगुण साकार, अनन्त ऐश्वर्योंके निधि द्विभुज, चतुर्भुज आदि आकारविशिष्ट भगवद्विग्रहको ही दास्यरसका आलम्बन स्वीकार किया है।

भगवान्‌का ऐश्वर्य अनन्त है। उनके एक-एक रोमकूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका निवास स्थान है। इतने ऐश्वर्यवान् होनेपर भी वे करुणाके तो समुद्र ही हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य है। समस्त सिद्धियाँ उनकी सेवामें तत्पर रहती हैं। संसारमें जितने भी देवी-देवता हैं, उन्हींके अंश विशेष हैं और जितने भी अवतार होते हैं, उनके वे ही बीजस्वरूप हैं। उनकी सर्वज्ञता, क्षमाशीलता, शरणागत वत्सलता और अनुकूलता, सत्यता, सर्वप्राणिहितैषिता आदि सद्गुण-आत्माराम पुरुषोंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उनके प्रतापसे ही संसारकी गति नियमित है, उनकी धारणाशक्तिसे ही धर्म सुरक्षित है। वे सब शास्त्रोंकी मर्यादाके स्थापक और पालक हैं। बड़े उदार हैं। महान् तेजस्वी हैं। एक बार भूलसे भी उनका कोई स्मरण करके भूल जाय, तब भी वे कभी नहीं भूलते। कृतज्ञताकी मूर्ति हैं। जो प्रेम करे उसीके वशमें हो जाते हैं। इस प्रकारके परम उदार, परम ऐश्वर्यशाली भगवान् ही दास्यरसके आलम्बन हैं।

भगवान्‌के दास उनके आश्रित होते हैं। भगवान्‌पर उनका अखण्ड विश्वास होता है, वे सर्वात्मना भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं और भगवान्‌के अप्रतिहत ऐश्वर्यके ज्ञानसे उनका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग—सम्पूर्ण जीवन भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित एवं नमित रहता है। इनके चार प्रकार होते हैं—अधिकृत, आश्रित, पार्षद और अनुगामी। (१) अधिकृत भक्तोंकी श्रेणीमें शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि देवतागण हैं। ये भगवान्‌की किस प्रकारकी सेवा करते हैं, इसका एक उदाहरण देखिये—

का पर्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कः क्षितौ वासवोऽयम् ।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत् ॥

'कोठेपर खिड़कीके पास खड़ी होकर जाम्बवतीके पूछनेपर कालिन्दी देवताओंका परिचय करा रही हैं—यह प्रदक्षिणा कौन कर रही हैं ? यह अम्बिका देवी हैं। भगवान्का दर्शन करके यह काँप कौन रहे हैं ? ये शिव हैं। ये स्तुति कौन कर रहे हैं ? ये ब्रह्मा हैं। ज़मीन में लोटकर नमस्कार कौन कर रहे हैं ? ये इन्द्र हैं। ये स्तब्ध कौन खड़े हैं, देवता लोग जिनकी हँसी उड़ा रहे हैं ? ये मेरे बड़े भाई यमराज हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि सभी देवता द्वारकामें आ-आकर भगवान्का दास्य करते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है, व्रज और वैकुण्ठकी ऐसी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। देवताओंके सहज वर्णनमें भी यह बात आती है कि वे सदा-सर्वदा भगवान्की दास्य-भक्तिमें ही तन्मय रहते हैं।

(२) आश्रित भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ। जरासन्धके द्वारा कैद किये हुए राजा लोग, भगवान्का अनुग्रहपात्र होनेपर कालियनाग—ये सब शरणागत श्रेणीके आश्रित हैं। जिन्होंने मुमुक्षा और जिज्ञासाका भी परित्याग कर दिया है और मोक्ष एवं ज्ञानका परित्याग करके भगवान्का ही आश्रयण किया है, वे ज्ञानी आश्रित हैं। इस श्रेणीमें शौनक आदि ऋषिगण आते हैं। इस श्रेणीके एक भक्त कहते हैं—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा ।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥

'जो ध्यानातीत किसी एक परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदय में वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा रहे, हमारे तो जो स्वभाव-सुन्दर परम मधुर हैं, जिनके मुख-कमलपर मन्द-मन्द मुस्कान है, वर्षाकालीन मेघके समान जिनकी कान्ति है, जो पीताम्बरधारी एवं कमलनयन हैं, वे श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं। वे ही प्राणप्रिय हैं, वे ही सेव्य हैं। हमें किसी दूसरे आत्मासे और कोई काम नहीं।'

जो सच्चे हृदयसे भगवान्के भजनमें ही आसक्त हैं, वे सेवानिष्ठ आश्रितोंकी श्रेणीमें हैं। इसमें चन्द्रध्वज, हर्यश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव आदिका नाम लिया जा सकता है। इस श्रेणीके भक्तका हृद्गत भाव इस प्रकार होता है—हे प्रभो! जो सर्वदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे तुम्हारे गुणोंका श्रवण करनेके लिये उस सभामें सम्मिलित होने लगते हैं, जिसमें तुम्हारे गुणोंका गान होता है। जो एकान्त जङ्गलमें रहकर घोर तपस्यामें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे तुम्हारे उदार चरित्र सुननेके लिये प्रेमी भक्तोंके सामने भिक्षुकके रूपमें उपस्थित होते हैं! इसलिये मैं न तो स्वरूप-स्थिति चाहता हूँ और न तो निर्विकल्प समाधि। मैं तुम्हारी सेवामें रहूँ, तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँ, तुम्हारी सन्निधिमें रहकर निरन्तर तुम्हारी

प्रसन्नता अनुभव किया करूँ—यही मेरे जीवनकी एकमात्र अभिलाषा है।

(3) भगवान्‌की नित्य लीलामें और समय-समयपर प्रकट होनेवाली लीलामें भी उनके नित्य पार्षद रहते हैं। वैकुण्ठमें विष्वक्सेन आदि, द्वारकाकी लीलामें उद्धव, दारुक आदि और हस्तिनापुरकी लीलामें भीष्म, विदुर आदि भगवान्‌के पार्षद श्रेणीके भक्त हैं। यद्यपि ये विभिन्न कार्योंमें नियुक्त रहते हैं, कोई मन्त्रीका काम करता है तो कोई सारथिका, तथापि ये अवसर पानेपर भगवान्‌की शरीरतः सेवा करते हैं और उससे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। (४) अनुगामी भक्त भगवान्‌की सेवामें सर्वदा संलग्न रहते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें इनकी दृढ़ आसक्ति होती है। द्वारकामें सुचन्द्र, मण्डल आदि अनुग भक्त छत्र-चमर आदि धारण करते हैं और व्रजमें रक्तक, पत्रक आदि दासगण भगवान्‌के वस्त्र आदिके परिष्कार आदिकी सेवा करते हैं। जैसे द्वारकाके भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, वैसे ही व्रजके भक्तोंमें रक्तक श्रेष्ठ है। इनके तीन भेद होते हैं यथा—धूर्य, धीर और वीर। धूर्य वे हैं जो महल और दरबार दोनोंमें एक-सी सेवा करते हैं। धीर श्रेणीके सेवक भगवान्‌के प्रेयसीवर्गका आश्रय लेकर विशेष सेवा न करनेपर भी अपना मुख्य स्थान रखते हैं। वीर सेवक भगवान्‌के आश्रयसे निर्भीक रहता है और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌के चरणोंमें इसका अतुलनीय प्रेम होता है। यह कभी-कभी अपनी प्रौढ़तावश कह बैठता है कि 'मुझे न बलरामसे काम है और न प्रद्युम्नसे कुछ लेना है। भगवान्‌की कृपासे मैं इस प्रकार बलवान् हो गया हूँ कि मैं सत्यभामाको भी कुछ नहीं गिनता।' अब तक

जितने प्रकारके दासोंकी गिनती की गयी है, वे सभी तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—एक तो नित्यसिद्ध, दूसरे साधनासिद्ध और तीसरे जो अभी साधन कर रहे हैं। इन सभीके चित्तमें अनुदिन दास्य-रतिकी अभिवृद्धि हुआ करती है।

दास्यरसमें साधारण और असाधारण अनेकों प्रकारके उद्दीपन-विभाव होते हैं, यथा—

(१) पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव।

(२) उनके चरणोंकी धूलिकी प्राप्ति।

(३) भगवान्‌के प्रसादका सेवन।

(४) भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग।

(५) भगवान्‌की वंशी, शृङ्ग आदिकी ध्वनिका श्रवण।

(६) भगवान्‌की मन्द-मन्द मुस्कान और प्रेम भरी चितवन।

(७) भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महत्त्व आदिका श्रवण।

(८) कमल, पदचिह्न, मेघ, अङ्गसौरभ आदि।

जिनके हृदयमें दास्यरसका उदय हो गया है, उनके जीवनमें बहुत-से अनुभाव प्रकट हो जाते हैं, यथा -

(१) भगवान् जिस कर्ममें नियुक्त कर दें, उसीको सर्वश्रेष्ठ समझकर स्वीकार करना।

(२) किसीके प्रति ईर्ष्याका लेश भी नहीं होना।

(३) जो अपनेसे अधिक सेवा करता है, उससे प्रसन्नता और भगवद्भक्तोंसे मित्रता।

(४) भगवान्‌की सेवामें ही रति, उसीमें प्रीति और उसीकी निष्ठा। दास्यके अवसरकी प्राप्तिसे और उनकी अप्राप्तिसे भी स्तम्भ आदि सात्त्विक भावोंका उद्रेक होता है। हर्ष, गर्व आदि भाव भी समय-समयपर स्फुरित हुआ करते हैं। भगवान्‌के ऐश्वर्य और सामर्थ्यके ज्ञानसे जो आदरपूर्वक सम्भ्रम होता है, उनके साथ मिलकर प्रीति ही सम्भ्रमप्रीतिका नाम धारण करती है। दास्यरसमें यही स्थायिभाव है। यह सम्भ्रमप्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। अकस्मात् भगवान्‌के मिलनेसे जो आदरभावपूर्वक ससम्भ्रमप्रेम है, वह सम्भ्रमप्रीति है। यही भाव जब इतना दृढ़ हो जाता है कि ह्रासकी आशङ्का नहीं रहती, तब इसे ही प्रेम कहते हैं। इस अवस्थामें प्रेम इतना स्वाभाविक हो जाता है कि भगवान् चाहे सौख्यके महान् समुद्रमें डाल दें, अथवा घोर दुःखमय नरकमें, कहीं भी चित्तमें विकार नहीं होता। भगवान्‌के चरणोंका पूरा विश्वास बना रहता है। यही प्रेम जब और घना होकर चित्तको अत्यन्त द्रवित कर देता है, तब इसका नाम स्नेह होता है। इसमें एक क्षणका वियोग भी सहन नहीं होता। यदि कहीं एक क्षणके लिये कृत्रिम वियोग हो जाय तो भी प्राणान्तकी नौबत आ जाती है। यही स्नेह जब इतना गाढ़ हो जाता है कि दुःख भी सुख मालूम होने लगता है, तब उसका नाम राग होता है। इस अवस्थामें अपने प्राणोंका नाश करके भी भगवान्‌की सेवा करनेका प्रयत्न होता है। इस अवस्थामें थोड़ा-बहुत सख्यका भी उदय हो जाता है।

यदि भगवान् इस श्रेणीके किसी सेवकको कभी अपने हृदयसे लगा लेते हैं, तो वह लग तो लेता है, किन्तु उसके चित्तमें संकोच रहता है।

सेवककी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो भगवान्के साथ योगकी और दूसरी अयोगकी। भगवान्के साथ न रहकर सेवासे वञ्चित रहना, यह अयोग-अवस्था है। इसमें मन भगवान्में ही रहता है, प्रायः भगवान्के गुणोंका अनुसन्धान और उनके मिलनके उपायका चिन्तन हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—उत्कण्ठा और वियोग। भगवान्के जबतक एक बार भी दर्शन नहीं हुए रहते, परन्तु उनके दर्शनकी बड़ी इच्छा रहती है, तबतककी अवस्थाका नाम उत्कण्ठा है। इस अवस्थामें कृष्णसार मृगका नाम सुनकर कृष्णकी स्मृति हो आती है। श्याम मेघको देखकर घनश्यामको पानेकी उत्कण्ठा तीव्र हो आती है। इस अवस्थामें विरहके सभी भावोंका उदय होता है। भगवान्के पानेकी उत्सुकता, अपनी दीनता, संसारसे निर्वेद, आशा-निराशा, जड़ता, उन्माद—सभी एक-एक करके आते रहते हैं। भगवान्के दर्शन बिना एक-एक क्षण कल्पके समान मालूम होने लगता है। निरन्तर हृदयसे सच्ची प्रार्थनाकी धारा प्रवाहित होने लगती है। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि व्यवहारका ध्यान नहीं रहता, आँखें निर्निमेष दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगती हैं। भक्त प्रेमोन्मादमें मस्त होकर कभी रोता है, कभी निःसंकोच नाचने लगता है, कभी तन्मय होकर भगवान्की लीलाओंका ही अनुकरण करने लगता है, कभी मूर्च्छा हो जाती है तो कभी मृत्युकी-सी भी दशा हो जाती है। इसी अवस्थामें जाकर प्रेमपरवश भगवान्को दर्शन देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

एक बार या अनेक बार भगवान्का दर्शन प्राप्त होनेके पश्चात् जो भगवान्का विरह होता है, उसको वियोग-अवस्था कहते हैं। भगवान्के मिलनका सुख ही ऐसा है कि जिसे एक क्षणके लिये भी प्राप्त हो जाता है, वह उसके विरहमें बड़ी कठिनाईसे जीवन धारण करता है। परन्तु संसारकी अपेक्षा उसकी यह कठिनाई भी परम रसमय है। भगवान्के विरहमें हृदयमें इतना ताप होता है कि सम्पूर्ण अग्नि और सूर्य भी वैसी जलन नहीं पैदा कर सकते। शरीर दुर्बल हो जाता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, नींद नहीं आती, उनके सिवा चित्त कहीं स्थिर नहीं होता, धैर्यका बाँध टूट जाता है, पीड़ासे शरीर जर्जर, शिथिल और अविचल हो जाता है, श्वासकी गति बढ़ जाती है, मानसिक व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु, पुनः जीवन और फिर वही अवस्थाएँ—उसकी ये ही अवस्थाएँ हुआ करती हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवत्प्रेमीके शरीरमें जो व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा आदि होते हैं, ये लौकिक नहीं, लोकोत्तर होते हैं। भगवान्के प्रेमराज्य में मृत्युका तो प्रवेश ही नहीं है। वहाँ जो ये अवस्थाएँ आती हैं, सो सब संयोग-सुखकी अभिवृद्धिके लिये। इसलिये प्रेमीकी यह मृत्यु भी जीवनसे बढ़कर है; क्योंकि रसस्वरूप भगवान्की सन्निधिमें यह पहुँचा देती हैं। यह वियोग संयोगका पोषक होनेके कारण रसस्वरूप है।

योग-अवस्थाके तीन भेद हैं—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें भगवान्की जो प्राप्ति होती है, उसको सिद्धि कहते हैं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें अक्रूरकी उत्कण्ठा और उनकी भगवत्प्राप्तिका वर्णन है, यह सिद्धि-अवस्था है। भगवान्का वियोग

होने के पश्चात् जो मिलन होता है उसको तुष्टि कहते हैं। ऐसा वर्णन आता है कि द्वारकाके द्वारपर दारुकने जब भगवान्‌को देखा तब उसको इतना आनन्द हुआ कि अञ्जलि बाँधकर भगवान्‌को प्रणाम भी नहीं कर सका। उसकी दशा चित्र-लिखित-सी हो गयी। इसीका नाम तुष्टि है। स्थिति-अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें भगवान्‌से कभी वियोग नहीं होता। इस स्थिति-अवस्थामें भक्त प्रत्येक क्षण बड़ी सावधानीसे भगवान्‌की सेवामें ही व्यतीत करता है। भगवान्‌के दास्यरसके भक्तोंके लिये इससे बढ़कर वाञ्छनीय कोई अवस्था नहीं हो सकती। वे परमानन्दके महान् समुद्रमें स्थित रहकर भगवान्‌की अवसरोचित सेवा किया करते हैं। कहाँ बैठना, कहाँ खड़े रहना, कैसे बोलना, कैसी चेष्टा करना—सब उनके नियमित रहते हैं। सख्यमिश्रित दास्य में कभी-कभी कुछ प्रगल्भता भी आ जाती है, परन्तु वह कभी-कभी ही होती है।

गौरवप्रीतिजनित दास्यमें पिता, बड़े भाई, गुरु आदिके रूपमें भगवान्‌की सेवा की जाती है। सर्वश्रेष्ठ कीर्तिमान्, परम ज्ञानसम्पन्न परम शक्तिमान् एक मात्र रक्षक, दुलार करनेवाले पिता आदिके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। उनके प्रेम या दुलारके पात्र सारण, गद, सुभद्र आदि छोटे भाई, प्रद्युम्न, साम्ब आदि पुत्र भी आलम्बन हैं। ये भगवान्‌से नीचे आसनपर बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं। साथ भोजन करते हैं। भगवान् इनका सिर सूँघते हुए आलिङ्गन करते हैं। ये उनका स्नेह देख मुग्ध होते रहते हैं। सम्भ्रमजनित दास्यमें भगवान्‌के ऐश्वर्यका ज्ञान प्रधान रहता है। परन्तु भगवान्‌के प्यारे इन सम्बन्धियोंमें तो सम्बन्धकी ही स्फूर्ति प्रधान रहती है।

व्रजमें किसी प्रकारके ऐश्वर्य की धारणा न होने पर ही व्रजराजकुमार होनेके कारण कुछ-कुछ ऐश्वर्यका लेश भी रहता ही है। भगवान्‌के वात्सल्यका स्मरण, उनकी प्रसन्नतासूचक मुस्कान और प्रेम-भरी चितवनका स्मरण आदि इस रसके उद्दीपन हैं। भगवान्‌के सामने नीचे आसनपर बैठना, उनकी आज्ञाका पालन, उनके कार्य-भारका ग्रहण, उच्छृङ्खलताका त्याग—ये सब अनुभाव इस रसमें प्रकट होते हैं। सात्त्विक और सञ्चारीभाव भी यथावसर प्रकट हुआ करते हैं।

गौरवप्रीति क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण कर लेती है। इनका वर्णन सम्भ्रमप्रीति में जैसा हुआ है, वैसा ही समझना चाहिये। योग और अयोग अवस्थाओंके भेद-विभेद भी उतने ही और वैसे ही हैं। गौरवप्रीति और सम्भ्रमप्रीति दोनों ही दास्यरसके स्थायिभाव हैं। जिन्हें भगवान्‌की इस प्रेममयी, रसमयी अवस्थाका अनुभव नहीं है, वे इसे रस नहीं मानते। परन्तु श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें इस अवस्थाकी रसमयताका सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवके लिये इससे बढ़कर और कौन-सी सरस और आनन्दमयी अवस्था होगी, जब वह अपने प्रियतम प्रभुकी सन्निधिमें रहकर उनके कृपा-प्रसादका अनुभव करता हुआ उन्हींकी सेवामें संलग्न रहे। 'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः' कहकर भागवतकारने इसके परमानन्दस्वरूपकी ओर निर्देश किया है।

(३)

सख्यरस

इस रसमें सख्यरति ही स्थायी होकर रसका रूप ग्रहण करती है। कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाके श्रीकृष्ण एवं उनके सखा

इसके आलम्बन हैं। व्रजमें मरकतमणिके समान श्याम सुन्दर शरीर, कुन्दके समान निर्मल हास्य, चमकता हुआ पीताम्बर, वनमाला, जादूभरी वंशी—ये सब-के-सब सख्य-रसकी धारा प्रवाहित करते रहते हैं। द्वारकामें और हस्तिनापुरमें भी श्रीकृष्णके समवयस्क अर्जुन आदि सखा हैं और वे सख्य-रसके अनुसार श्रीकृष्णसे व्यवहार करते हैं। सखाके रूपमें श्रीकृष्ण अपने सब सखाओंसे बलवान् हैं, सबसे अधिक भाषाके ज्ञाता, वक्ता और विद्वान्, प्रतिभा, दक्षता, करुणा, वीरता, विदग्धता, बुद्धिमत्ता, क्षमा और प्रसन्नतामें अतुलनीय। सखा भी रूप, वेष, गुण आदिमें उनके समान ही होते हैं। दासोंके समान नियन्त्रणमें नहीं रहते। अपने सखा श्रीकृष्णपर सम्पूर्ण रूपसे निर्भर रहते हैं। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, सुदामा—ये सब द्वारकाके सखा हैं। व्रजके सखा सर्वदा श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा किया करते हैं। उनके जीवन ही श्रीकृष्ण हैं। एक क्षण भी अपने सखा श्रीकृष्णका दर्शन न पाकर वे दीन हो जाते हैं। इनके प्रेम और सौभाग्यकी तुलनामें और किसीका भी नाम नहीं लिया जा सकता। बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि यहाँके प्रसिद्ध सखा हैं। कितना प्रेम है इनका श्रीकृष्णके प्रति, वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्यमय रूप से, अपने बायें हाथकी कनिष्ठा अँगुलीपर गोवर्द्धन पर्वत उठाये हुए हैं। परन्तु ग्वालबालोंके लिये तो वे अपने सखा ही हैं, उन्हें उनके ऐश्वर्यका ध्यान कहाँ? वे जाकर उनसे कहने लगे—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।

आधिर्विंध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

'सखे ! तुम नींद छोड़कर सात दिनसे खड़े हो, बड़े कष्टकी बात है। अब तुम बहुत थके-से जान पड़ते हो, अब परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीदामाके हाथपर पर्वत रख दो अथवा हमारे हाथमें ही दे दो। तुम्हें इस प्रकार देखकर हमारे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। यदि ऐसा करनेकी इच्छा नहीं हो, तो थोड़ी देरके लिये उसे दाहिने हाथमें ले लो, हम तुम्हारे बायें हाथका थोड़ा संवाहन तो कर लें। उसे हाथसे दबाकर उसकी पीड़ा तो कम कर दें।'

इनकी चार श्रेणियाँ होती हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था कुछ बड़ी होती है, उनमें वात्सल्य मिश्रित सख्य रहता है। वे अपने सखा श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिये सर्वदा तैयार रहते हैं। इस श्रेणीमें सुभद्र, मण्डलीभद्र, बलभद्र आदि सखा हैं। ये भरसक श्रीकृष्णको अकेले नहीं छोड़ते। अपने बिना उनको अरक्षित समझते हैं। उनके चित्तमें अनिष्टकी आशंका बार-बार आया करती है और ये सर्वदा सजग रहते हैं। सखा-श्रेणीके ग्वाल-बाल अवस्थामें कुछ छोटे रहनेपर भी समान ही रहते हैं। इनमें दास्यमिश्रित सख्य होता है। विषाद, ओजस्वी, देवप्रस्थ आदि इस श्रेणीमें हैं। ये वनमें, गोष्ठमें और जलमें सर्वदा श्रीकृष्णकी सेवामें संलग्न रहते हैं। खेलमें इनका सख्य प्रकाशमें आ जाता है। प्रिय सखाओंकी श्रेणीमें श्रीदामा, सुदामा आदि हैं।

इनकी अवस्था श्रीकृष्णके समान है और इनमें केवल विशुद्ध सख्य है। ये श्रीकृष्णके साथ कुश्ती लड़ते, लाठी चलाते, तरह-तरह के खेल खेलते हैं। कोई श्रीकृष्णसे विनोद करता है, कोई पुलकित शरीरसे उनका आलिङ्गन करता है। श्रीकृष्णका क्षणिक वियोग भी इनके लिये असह्य है। प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी प्रिय-सखाओंकी अपेक्षा और भी अन्तरङ्ग है। ये अत्यन्त रहस्यमें भी सम्मिलित रहते हैं और गोपियोंके सन्देश, पत्र आदि श्रीकृष्णके पास ले आते हैं और उनके पास पहुँचाते भी हैं। इस श्रेणीमें सुबल, उज्ज्वल आदि हैं। ये चारों श्रेणियाँ व्रजके सखाओंमें ही होती हैं। इनमेंसे कोई बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई सरल हैं तो कोई चपल हैं तो कोई गम्भीर, कोई बहुत बोलनेवाले हैं तो कोई चुप रहनेवाले। इनकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये होती हैं। प्रकृति भिन्न-भिन्न होनेपर भी ये बड़े ही मधुर हैं। इनकी पवित्र मित्रता और विचित्रता श्रीकृष्णको भी मोहित कर लेती है।

सख्यरसके उद्दीपनोंमें बहुत-सी वस्तुएँ हैं, यथा—

(१) श्रीकृष्णकी कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाएँ।

(२) श्रीकृष्णकी मुनिजन-मनोमोहिनी लोकोत्तर सुन्दरता।

(३) श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि, शृंगध्वनि आदि।

(४) श्रीकृष्णकी विनोदप्रियता, मधुर भाषण।

(५) श्रीकृष्णकी लीलाप्रियता, उछलना, कूदना, नाचना, गाना आदि।

(६) श्रीकृष्णके प्रियजनोंके आनन्द और सौभाग्यका स्मरण।

(७) श्रीकृष्णके द्वारा राजा, देवता, अवतार, हंस आदिका अनुकरण।

(८) श्रीकृष्णका अपने सखाओंके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्ण और समान व्यवहार।

इन बातोंके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चिन्तनसे हृदयमें सख्य-रस प्रकट होता है। सख्य-रसके प्रकट होनेपर निम्नलिखित अनुभाव स्वयं ही स्फुरित होने लगते हैं—

(१) श्रीकृष्णके साथ गेंद खेलना, कुश्ती लड़ना, एक-दूसरेपर सवारी गाँठना आदि।

(२) आपसमें खेल-कूदकर श्रीकृष्ण जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करना।

(३) उनके साथ पलङ्गपर बैठना, झूलेपर झूलना, साथ सोना इत्यादि।

(४) श्रीकृष्णके साथ सुन्दर-सुन्दर अद्भुत विनोद।

(५) श्रीकृष्णके साथ जल-विहार।

(६) श्रीकृष्णके साथ नाचना, गाना, बजाना।

(७) उनके साथ गाय दुहना, चराना, कलेऊ करना,

आँखमिचौनी आदि खेलना, दूर हो जानेपर आपसमें होड़ लगाकर उन्हें छूना इत्यादि।

ये अनुभाव सख्यरसका अनुभव करनेवालेके हृदय और परिपक्व होनेपर शरीरमें भी प्रकट हुआ करते हैं।

श्रीकृष्णके प्रेममें पगे रहना, उनकी कोई अद्भुत लीला देखकर स्तम्भित हो जाना, शरीर पसीज जाना, रोमाञ्चित हो जाना, काँपना, विवर्ण हो जाना आदि सात्त्विक भाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित हुआ करते हैं। आनन्दके आँसू, हर्षकी गाढ़ता आदि स्वाभाविक ही रहते हैं। सख्यरतिमें ऐश्वर्यका भान नहीं रहता। इसमें अपने सखाके प्रेमपर पूरा विश्वास रहता है। सख्यरसका यही स्थायिभाव है। यही परिपुष्ट होकर रसका रूप धारण करता है। यही सख्यरति क्रमशः विकसित होकर प्रणय, प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। सख्यरतिमें मिलनकी इच्छा प्रबल रहती है। प्रणयमें ऐश्वर्यका प्रकाश होनेपर भी सखापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक ओर ब्रह्मा और शिव श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं, तो दूसरी ओर एक सखा उनके बालों पर पड़ी हुई धूलि झाड़ रहा है। प्रेममें दुःख भी उसको बढ़ाने वाला ही होता है। स्नेहमें एक क्षणके लिये भी अपने सखाकी विस्मृति नहीं होती। हृदय सर्वदा स्नेहसे भरा रहता है। आँखोंमें आँसू और कण्ठ गद्गद, प्रियतमका गुणगान हुआ करता है। रागमें दुःखके निमित्त भी सुखके रूपमें अनुभव होते हैं। अश्वत्थामा श्रीकृष्णपर अत्यन्त तीखे बाण चलाता है, परन्तु अर्जुन उन्हें

श्रीकृष्णको न लगने देकर अपने वक्षःस्थलपर ले लेते हैं। उन्हें मालूम होता है मानो कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा है। आनन्दमग्न हो रहे हैं।

दास्यरसकी भाँति ही सख्यरसमें भी अयोगके दोनों भेद होते हैं—जबतक भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, तबतक उत्कण्ठित-अवस्था और मिलनके पश्चात् जब विरह होता है, तब वियोग-अवस्था। श्रीकृष्णसे मिलन होनेसे पहले पाण्डवोंकी, विशेष करके अर्जुनकी उत्कण्ठित अवस्था प्रसिद्ध है। मिलनके पश्चात्का वियोग भी पाण्डवोंके जीवनमें बहुत ही सुस्पष्ट रूपसे वर्णित हुआ है। भागवतके प्रथम स्कन्धमें अर्जुनने भगवान्का विछोह होनेपर जो विलाप किया है, वह बड़ा ही हृदयद्रावक एवं मर्मस्पर्शी है। भगवान्के मथुरागमनके पश्चात् व्रजके ग्वाल-बालोंको जो वियोग हुआ है, वह वर्णनातीत है। उनके जीवनमें जितने भी दुःखके अवसर आये हैं—दावानलमें जलना, कालीदहका विषैला जल पीना और अघासुरके मुखमें जाना आदि, सबसे बड़ा दुःख श्रीकृष्णके विरहका ही हुआ है। उनके अन्तस्तलमें विरहकी ज्वाला इस प्रकार प्रज्वलित होती रहती है कि भाण्डीर वटकी शीतल छाया, यमुनाकी बरफके समान ठण्डी धारा भी उसे शान्त न करके और भी धधका देती है। शरीर दुर्बल हो जाते हैं, आँखोंमें आँसू भरे रहनेके कारण नींद नहीं आती, उनका चित्त आलम्बनशून्य होकर धैर्यहीन, विचारशून्य एवं जड़प्राय हो जाता है। उनके शरीरकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है। जगत्के व्यवहार भूलकर कहीं लोटते हैं, कहीं दौड़ते हैं, कहीं खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। अपने-आप न जाने क्या-क्या बका करते हैं और कभी-कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। श्रीकृष्णके

विरहमें ग्वाल-वालोंकी दशा भी गोपियोंके समान ही हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें—

कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरंपरिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहकी तरङ्गोंसे उत्पन्न ज्वालाएँ ग्वाल-बालोंको जर्जरित बना रही हैं। उनके श्वासका अंकुर भी अब क्षीण हो चला है। वे पर्वतकी तराइयोंमें निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। इतने निश्चल हो रहे हैं वे कि उनके चिर-परिचित स्नेही हरिण बार-बार अपने आँसुओंकी अजस्र धारासे भिगोकर भी जब उन्हें नहीं उठा पाते, तब बहुत देर तक उनके लिये शोक करते हैं।' भगवान्के विरहकी ऐसी अवस्था जिनके जीवनमें प्रकट हुई है, उन भाग्यवान् ग्वाल-बालोंके सम्बन्धमें और क्या कहा जा सकता है?

ग्वाल-बालोंकी यह विरहावस्था व्यक्त लीलाके अनुसार है। इनके जीवनसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सख्यरसके उपासकोंमें भगवान्के विरहकी कितनी ऊँची अवस्थाका प्रकाश होना चाहिये। अन्तर्लीलामें तो श्रीकृष्णके साथ इनका वियोग कभी होता ही नहीं। दास्यरसके समान ही इसमें भी संयोगकी सिद्धि, तुष्टि और स्थिति नामकी तीनों अवस्थाएँ होती हैं। पहले-पहल भगवान्का दर्शन जैसे पाण्डवोंको हुआ था, दुबारा-तिबारा दर्शन, जैसे कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके समय ग्वाल-बालोंको हुआ था और सर्वदा एक साथ

रहना जैसा कि व्रजके ग्वाल-बालोंका अन्तर्लीलामें रहता है—ये सब सख्यरसकी ही उपर्युक्त अवस्थाएँ हैं। उनके सौभाग्यका भला कौन वर्णन कर सकता है, जो संतोंके परमानन्दस्वरूप आत्मा, भक्तोंके परमाराध्यदेव भगवान् और प्रेमियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्णके साथ—जिनके चरणोंकी धूल बड़े-बड़े योगियोंको कोटि-कोटि कल्पकी तीव्र तपस्यासे भी दुर्लभ है—इस प्रकार खेलते हैं मानो कोई अपना ही समवयस्क, अपने ही जैसा साधारण बालक हो। यही भगवान्के प्रति सख्यरतिका फल, सख्यरस है। शान्त और दास्यरसकी अपेक्षा इसका वैलक्षण्य बहुत ही सुस्पष्ट है और सहृदयोंके अनुभवगोचर इस रसकी रसरूपता भी निर्विवाद है। श्री जीवगोस्वामीने दास्यरसको प्रीतिरसके नामसे और सख्यरसको प्रेयोरसके नामसे वर्णन किया है।

(४)

वत्सलरस

भगवान्के प्रति वात्सल्यरति ही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा व्यक्त होकर वत्सलरसका रूप ग्रहण करती है। इसके आलम्बन हैं—बालक भगवान् और उनके गुरुजन। अयोध्यामें शिशुरूप भगवान् राम और व्रज में शिशुरूप श्रीकृष्ण—ये दोनों ही वात्सल्य-भाजन हैं। सुकुमार शैशवसे लेकर कमनीय कैशोरतक वात्सल्यरतिकी अवस्था है। यौवनका प्रारम्भ होनेपर भी गुरुजनोंकी दृष्टिमें किशोर अवस्था ही रहती है। नवीन नीलकमलके समान साँवला शरीर, शिरीष कुसुम-सा कोमल अङ्ग, मरकतमणि के समान सुचिक्कण कपोलोंपर घुँघराली अलकें, प्रभाव और ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित नन्हे-से शिशुके रूपमें शैशवोचित चापल्य और व्याघ्रनख आदि भूषणोंसे

विभूषित भगवान् अनुग्राहकके रूपमें नहीं, अनुग्रहपात्रके रूपमें इस वात्सल्यके लोकोत्तर आलम्बन हैं। तोतली बोली—मानो मूर्तिमान मिठास, सरलताकी सीमा नहीं, गुरुजनोंके प्यारसे बार-बार उल्लसित एवं प्रफुल्लित होनेवाले, गुरुजनोंको बार-बार प्रणाम करनेवाले और बात-बातमें उनके सामने सकुचा जानेवाले, अपनी नन्ही-नन्ही हथेलियोंसे किसीको माखन और किसीको धन, रत्न लुटानेवाले बालरूप भगवान् गुरुजनोंके सम्पूर्ण स्नेहको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। वेद, उपनिषद् दर्शन और भक्त जिनकी महिमा गाते-गाते अघाते नहीं, वे ही भगवान् वात्सल्यरतिके वश होकर ऊखलमें बाँधे जाते हैं, डाँट-फटकार सुनते और माँकी साँटीसे डरकर रोने लगते हैं। क्या ही अलौकिक माधुर्य है! अवश्य ही यह वात्सल्यरतिकी महिमा और श्रीकृष्णकी प्रेमपरवशता है।

श्रीकृष्णके गुरुजन—जैसे नन्द, यशोदा और वे गोपियाँ जिनके बच्चोंको ब्रह्माने चुरा लिया था—इस रसके आलम्बन विभाव हैं। वे अपनेको श्रीकृष्णसे अधिक माता-पिता आदिके रूपमें मानते हैं। वे उनको, दुलारते हैं, पुचकारते हैं और अपराध करनेपर दण्ड भी देते हैं। देवकी, कुन्ती, सान्दीपनि मुनि—ये सब भी गुरुजनोंकी ही श्रेणीमें हैं। यशोदा अपने प्यारे शिशुको माखन खिलानेके लिये अपने हाथसे ही बहुत-सी दासियोंके होनेपर भी दही मथती हैं। वे श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये गद्गद कण्ठ और अश्रुपूर्ण नयनोंसे श्रीकृष्णके शरीरमें मन्त्रों और देवताओंका न्यास करती हैं, उनके सिरपर रक्षा-तिलक करती हैं और भगवान्से, देवी-देवताओंसे प्रार्थना करती रहती हैं। अभी पूरा प्रातःकाल भी नहीं हुआ होता, श्रीकृष्ण

सोकर उठे भी नहीं रहते, इनके स्तनोंसे दूधके रूपमें वात्सल्यरसकी धारा फूट पड़ती है। यदि कोई वात्सल्यरसका मूर्तिमान् दर्शन करना चाहता हो तो मां यशोदाका दर्शन कर ले। ये वत्सलरसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसकी जननी हैं। नन्दबाबाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। जब श्रीकृष्ण उनके हाथकी अंगुली पकड़कर लड़खड़ाते हुए आँगनमें चलते हैं, तब नन्दबाबाका स्नेह उमड़ पड़ता है, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू झर-झर झरने लगते हैं, पुलकित शरीरसे श्रीकृष्णको उठाकर वे अपने हृदयसे लगा लेते हैं, और सिर सूँघकर बार-बार चूमते हैं। उनके सुख सौभाग्यकी कल्पना भी मनकी सीमासे परे है; उनका वर्णन तो किया ही कैसे जा सकता है।

वात्सल्यरसके उद्दीपन विभावोंकी संख्या अपरिमेय है। श्रीकृष्णकी कुमार आदि अवस्थाएँ, उन अवस्थाओंमें प्रस्फुटित सहज सौन्दर्य और उसके अनुकूल वेष-भूषा एवं चपलताएँ, बोलना, हँसना, खेलना, रोना, सोना, जगना रूठना—यहाँ तक कि बालोचित सभी क्रियाएँ उद्दीपन विभावके अन्तर्गत हैं। कुमार अवस्थाके तीन भाग होते हैं—आदि, मध्य और शेष। आदि अवस्थामें मध्य भाग और ऊरु कुछ स्थूल होते हैं। आँखके कोने श्वेत और बहुत थोड़े-से दाँत। अङ्ग-अङ्गमें मृदुलताका साम्राज्य होता है। इस अवस्थामें बार-बार पैर उछालना, एक क्षणमें रोना तो दूसरे ही क्षण में हँस देना, अपने पैरका अँगूठा चूसना और उतान पड़े रहना—यही चेष्टा होती है। गलेमें बघनहाँ, ललाटपर रक्षा-तिलक, आँखोंमें अञ्जन, कमरमें करधनी और हाथ में सूत—यही आभूषण होते हैं। नन्दरानी और नन्दबाबा इस शोभाको देख-देखकर कभी तृप्त नहीं होते, यही

चाहते रहते हैं कि निर्निमेष नयनोंसे इन्हें निहारते रहें। मध्य अवस्थामें आँखोंके कोनोंमें कुछ केसरिया रंग आ जाता है। कभी कपड़ा पहिनते हैं और कभी नग्न रहते हैं। कान छिदे हुए होते हैं। तोतली बोली बोलते हैं। आँगनमें घुटनोंके बल चलते हैं। नाकमें मोती, हाथमें माखन, कमरमें घुँघरू—यही आभूषण होते हैं। इनकी मन्द-मन्द मुस्कान और बालोचित चेष्टाओंको देखकर गुरुजन आनन्दित होते रहते हैं। शेष अवस्थामें कमर कुछ पतली और वक्षःस्थल कुछ ऊँचा हो जाता है। मस्तकपर घुँघराले बाल लहराते हैं। इस अवस्थामें कन्धेपर पीताम्बरकी चादर, जङ्गली पुष्पोंके आभूषण और छोटा-सा बेंतका डंडा आदि धारण करते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ खेलते हैं। गाँवके आस-पास उनके साथ बछड़ों को चरा लाते हैं। छोटी-सी बाँसुरी और छोटी-सी सींग अपने पास रखते हैं और कभी-कभी पत्तोंके बाजे बनाकर बजाते हैं। जो इनकी लीलाओं को देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं, वे ही वास्तवमें बड़भागी हैं।

पौगण्ड अवस्थाका वर्णन सख्यरसके प्रसङ्गमें प्रायः आ ही गया है। आँखोंमें धवलिमा, सिरपर पगड़ी, बदनमें कंचुक, चरणोंमें मन्द-मन्द ध्वनि करनेवाले मनोहर नूपुर, पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण इस अवस्थामें गौओंको चराने लगते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ यमुनातटपर भी जाते हैं। किशोर अवस्थामें दोनों आँखोंके कोनोंमें किञ्चित् लालिमा आ जाती है। वक्षःस्थल ऊँचा होता है, सुन्दर हार धारण करते हैं। इसी समय नव यौवनका उन्मेष होता है, परन्तु वात्सल्य प्रेमवालोंको ये शिशु ही मालूम पड़ते हैं। दास्यरस

वालोंको ये पौगण्ड अवस्थामें भी किशोरके समान मालूम पड़ते हैं। बचपनमें ये कहीं दूधकी कमोरी फोड़ देते हैं, तो कहीं आंगनमें बिखेर देते हैं। कहीं मथानीका डंडा तोड़ देते हैं, तो कहीं माखन आगमें डाल देते हैं, वानरोंको खिला देते हैं या ग्वाल-बालोंको बाँट देते हैं। गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये इसी समय माखन-चोरी भी करते हैं। एक गोपी कह रही है—'बहिन, तनिक अनजानकी तरह चुप होकर यह दृश्य देख तो लो—लताओंकी आड़मेंसे धीरे-धीरे पैर रखता हुआ कन्हैया सशङ्क भावसे इधर-उधर देखता हुआ माखन-चोरी करनेके लिये कितनी चालाकी और मधुरताके साथ आ रहा है! ठहरो! तनिक मुझे देख लेने दो—भयभीत आँखें किस प्रकार इधर-उधर घूम रही हैं, ओठ सूखा जा रहा है। इस छलियाकी छलना भी कितनी मधुर है! तनिक देखो तो सही!

इस रसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा विलक्षण ही हैं, यथा—

(१) गोदमें लेकर या हृदयसे लगाते हुए सिर सूँघना।

(२) अपने हाथसे शरीरमें लगी हुई धूल झाड़ना, उबटन, तेल, फुलेल लगाना।

(३) देवताओंसे रक्षाकी प्रार्थना करना, कवच बाँधना, न्यास करना, आशीर्वाद देना।

(४) अमुक वस्तु ले आओ, अमुक वस्तु रख आओ—इत्यादि आज्ञा करना।

(५) दुलारना-पुचकारना।

(६) पशुओंसे, काँटेसे, नदीसे और भयके अन्य निमित्तोंसे रक्षा करना।

(७) तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिये, ऐसे नहीं रहना चाहिये—इत्यादि उपदेश करना।

(८) चूमना, हृदयसे लगाना, नाम लेकर पुकारना, उलाहना देना डाँटना इत्यादि।

नन्दरानी यशोदाके स्तनोंसे स्नेहाधिक्यके कारण दूध तो प्रायः निकलता ही रहता है। कभी-कभी श्रीकृष्णके खेलोंको देखकर वे चकित रह जाती हैं। उस दिन जब उन्होंने अपने लाड़लेको गोवर्धन उठाये हुए देखा, तो इनका शरीर स्तम्भित हो गया। ये उनका आलिङ्गन भी नहीं कर सकीं। आँखोंमें इतने आँसू आ गये कि देख भी नहीं सकीं। और तो क्या—गला रुँध गया, ये उन्हें समझा भी न सकीं कि तुम ऐसा साहस क्यों कर रहे हो। अन्तमें इन्होंने यही निश्चय किया कि मैं प्रतिदिन भगवान्‌की आराधना करती हूँ, प्रतिदिन अपने पुत्रकी रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना करती हूँ—उसीका यह फल है; नहीं तो मेरा कुसुम-सा सुकुमार लल्ला इतना बड़ा पहाड़ भला कैसे उठा सकता है? इन सात्त्विक भावोंके अतिरिक्त हर्ष, निर्वेदादि भी पूर्वोक्त रसोंके समान ही होते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वत्सलरसमें ऐश्वर्यका लेश भी—चाहे वह गौरवकी दृष्टिसे हो, या सम्भ्रमकी दृष्टिसे—सर्वथा नहीं होता। अपने स्नेहपात्रके प्रति स्नेह करनेवालेकी जो विशुद्ध

रति है, उसीका नाम वात्सल्य भाव है; यही वत्सलरसका स्थायिभाव है। यशोदामें यह वात्सल्यरति स्वभावसे ही परिपूर्ण रहती है। औरोंमें यह कभी प्रेमके रूपमें, कभी स्नेहके रूपमें और कभी रागके रूपमें प्रकट होती है। श्रीकृष्णके दर्शनकी व्याकुलता, मुनिजनोंके द्वारा पूजित होते समय भी उन्हें गोदमें बैठा लेना, हृदयका उनके स्नेहसे सर्वदा द्रवित रहना, उनके लिये, उनकी प्रसन्नताके लिये और उनकी सन्निधिके लिये, दुःखको भी सुखके रूपमें अनुभव करना—ये सब उसके लक्षण हैं।

इस रसमें भी पहले-पहल मिलनेके पूर्व उत्कण्ठा, एक बार मिलनेके पश्चात् विरह पूर्ववत् ही होते हैं। देवकी और कुन्तीकी उत्कण्ठा, श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदाका विरह कौन नहीं जानता ? यशोदाका ऐसा वर्णन आता है कि उन्हें अपने बालोंकी सुधि नहीं रहती, व्यथित होकर इस प्रकार जमीनमें लोटतीं कि चोट लगनेकी भी परवा नहीं रहती। 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई अपनी छाती पीटतीं। वत्सलरसमें वियोगकी इतनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, होती हैं कि उनका वर्णन असम्भव है। विशेष करके चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता, दीनता, चपलता, उन्माद और मोह—ये तो अत्यन्त अभिवृद्ध हो जाते हैं। थोड़े ही समयके लिये जब श्रीकृष्ण वनमें गौएँ चरानेके लिये चले जाते हैं, तो नन्दरानीकी चाल धीमी पड़ जाती है। मति कुछ स्तब्ध रहती है। आँखें कई बार स्थिर हो जाती हैं। श्वास गरम आने लगता है। अपने पुत्रकी अनिष्ट-शङ्कासे वे क्षुब्ध हो उठती हैं। श्रीकृष्णके मथुरा और वहाँसे द्वारका चले जानेपर तो उनके विषादकी सीमा न रही। वे कभी

सोचतीं कि 'हाय! मैं कितनी अभागिनी हूँ कि अपने पुत्रकी मनोहर जवानी नहीं देख सकी। उसके विवाहका सुख देखना मेरे भाग्यमें नहीं बदा था। मेरे जीवनको धिक्कार! मैं उसे अब अपनी गोदमें नहीं बैठा पाती। इन गौओंसे अब मेरा कौन काम है, जिनका दही और माखन चुराकर लुटाने वाला ही दूर चला गया।' कभी वे घरमें जाती हैं, श्रीकृष्णकी बाँसुरी अथवा छड़ीपर आँख चली जाती है, तो वे घंटोंतक छड़ीकी तरह ही खड़ी रह जाती हैं, शरीर हिलता-डोलता तक नहीं। जड़ता दूर होनेपर वे बड़ी दीनतासे प्रार्थना करने लगती हैं—'हे प्रभो, एक क्षणके लिये मेरे कन्हैयाको मेरी आँखोंके सामने ला दो; मैं जन्म-जन्म तुम्हारी ऋणियाँ रहूँगी।' वे कभी-कभी विरहकी ज्वालासे चञ्चल हो उठती हैं और नन्दबाबाको उलाहना देने लगती हैं कि 'तुमने मेरे हृदयको, जीवन सर्वस्वको, आँखोंके तारेको मथुरामें क्यों छोड़ दिया? मेरे बच्चेको माखन-मिश्री मिलती होगी कि नहीं, क्या पता? तुम यहाँ गोष्ठमें बैठकर आराम कर रहे हो।' वे कभी-कभी उन्मत्त होकर वृक्षों से, हरिनोंसे पूछने लगतीं कि क्या तुमने कहीं मेरे श्यामसुन्दरको देखा है? वे इतनी मोहित हो जाती हैं कि जब बहुत देरतक आँखें नहीं खुलतीं, तब नन्दबाबा अनेकों प्रकारके यत्न करके उन्हें जगानेकी चेष्टा करते हैं।

भगवान्का संयोग इस रसमें भी तीन प्रकारका ही माना गया है—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। जब श्रीकृष्ण पहले-पहल मथुरामें गये तो वहाँकी वे स्त्रियाँ, जिनका उनमें पुत्रभाव था, स्नेहकी रसधारासे आप्लावित हो गयीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा प्रवाहित होकर उनके वस्त्रोंको भिगोने लगी। कुरुक्षेत्रमें जब यशोदा और श्रीकृष्णका

मिलन हुआ, तो मांके हृदयमें कितनी तुष्टि और कितने रसका सञ्चार हुआ—वर्णन नहीं किया जा सकता। लोगोंने देखा यशोदाके नयनों और स्तनोंसे रसकी निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है और श्रीकृष्णका दिव्य अभिषेक सम्पन्न हो रहा है। श्रीकृष्णका नित्य संयोग जो कि अन्तर्लीलामें सर्वदा एकरस रहता है, उसकी रसरूपताका, उसके आनन्दका वर्णन करना ही उसे नीचे उतारना है। प्रेम अन्तर्जगत्की वस्तु है। उसका कुछ बाह्यरूप है तो केवल सेवा। दास्यकी सेवामें और वात्सल्यकी सेवामें बड़ा अन्तर है। यह तो सख्यसे भी विलक्षण है। जिनके शुद्ध और भगवत्कृपापात्र हृदयमें इस भावका उदय और परिपोष हुआ है, वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

बहुत-से काव्य-रसिकों और नाट्याचार्योंने भी वात्सल्य-भावके रसत्वको स्वीकार किया है। इस रसकी चमत्कारकारिता निर्विवाद है। दास्यरसमें यदि भगवत्प्रेमका स्फुरण न होता रहे, तो ऐसा समझना चाहिये कि दास्यरस अभी परिपुष्ट नहीं हुआ है। प्रेमकी स्फूर्ति विना सख्य-रसकी तो कोई स्थिति ही नहीं है। परन्तु यह वात्सल्यरस उनकी अपेक्षा यह महान् विलक्षणता रखता है कि प्रतीति हो या न हो, यह ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है। जिस समय माता अपने शिशुकी ताड़ना करती है, उसकी चञ्चलताओंसे घबराकर उसे डाँटती है—यहाँ तक कि बाँध देती है और पीटती भी है—इन अवस्थाओंमें भी वात्सल्यभाव ज्यों-का-त्यों एक रस बना रहता है। यही इसकी अनन्यसाधारण विशेषता है। कभी-कभी यह दास्य और वात्सल्यसे मिश्रित ही होता है। किसीका सख्यप्रधान

वात्सल्य, किसीका दास्य-प्रधान वात्सल्य और किसीका उभयप्रधान वात्सल्य। वात्सल्य-प्रधान सख्य और दास्य भी होते हैं। ये सब भेद और उनके उदाहरण श्रीरूपगोस्वामीके ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं।

(५)

मधुररस

सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। इस रसका इतना अधिक विस्तार है कि यदि इसकी अवस्थाओंके केवल नाम ही गिनाये जायँ, तो एक बड़ा-सा ग्रन्थ बन सकता है। इसलिये यहाँ संक्षेपसे उनकी कुछ थोड़ी-सी बातें ही लिखी जायँगी। इसके आलम्बन हैं भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी त्रिभुवनमें किसीसे समता भी नहीं की जा सकती, उससे परेकी तो बात ही क्या? उनकी लीलाका माधुर्य लोकोत्तर है। अत्यन्त रमणीय, अत्यन्त मधुर, समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त, अत्यन्त बलवान्, नित्य-नूतन, नवयुवा और प्रेम-परवश, मदनमोहन श्यामसुन्दर। लहराते हुए बाल और फहराता हुआ पीताम्बर। जिसकी आँखें एक बार क्षणभरके लिये उन्हें देख लें, वह सर्वदाके लिये उन्हींपर निछावर हो जाता है। प्रेम करनेवालोंके अनुकूल, कृतज्ञ और रहस्यको गुप्त रखनेवाले यह मूर्तिमान् शृङ्गार हैं अथवा प्रेम। अङ्ग-अङ्गसे उन्मादकारी रस, मधुमय आनन्द छलक रहा है। धीर, वीर और गम्भीर, ललित और उदात्तचरित्र। ये मोहन भला, किसका मन नहीं मोह लेते? व्रजदेवियाँ तो इनपर निछावर हैं।

श्रीकृष्णकी वल्लभाएँ—द्वारकाकी, वृन्दावनकी—अत्यन्त प्रेममय, सहृदय और श्रीकृष्णको ही अपना जीवन-सर्वस्व माननेवाली, नित्य नवकिशोरावस्था। प्रतिक्षण माधुरीकी धारा प्रवाहित होती रहती है। हृदय प्रेम और आह्लादकी तरङ्गोंसे उच्छ्वलित। इनमें व्रजकी गोपियाँ प्रधान हैं, गोपियोंमें राधा। राधाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या? वे भगवान्‌की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण उनके अपने और वे श्रीकृष्णकी अपनी, श्रीकृष्ण राधा और राधा श्रीकृष्ण। भेद-भावकी माया-छायामात्र भी नहीं। ऐसी स्थितिमें राधाकृष्णके पारस्परिक भावको कहा जाय तो कैसे, सोचा जाय तो कैसे? एक ही के दो रूप, दोके अनेक रूप, यही लीलाका स्वरूप है। सभी गोपियाँ राधाकी ही अंश-विशेष, शक्तिविशेष हैं। उनमें स्वकीया और परकीयाका भेद लीलामात्र है, सो भी लीलारसकी परिपुष्टिके लिये। एक गोपी कहती है कि नन्दरानी मुझसे बड़ा स्नेह करती हैं, सखियाँ मुझे प्राणोंसे भी प्रिय समझती हैं और वृन्दावन वैकुण्ठसे भी उत्तम है। परन्तु यदि कात्यायनीकी आराधनाके फलस्वरूप मयूरपिच्छधारी, गुञ्जाकी माला पहने हुए, मदनमोहन श्रीकृष्ण प्राणप्रियके रूपमें न मिलें तो इन सबसे मुझे क्या लाभ? गोपियों की महिमा अनन्तकोटि मुखसे भी नहीं कही जा सकती। उनके प्रेमका उल्लास आर्यमर्यादाकी सीमा पार कर गया है। फिर भी सतीशिरोमणि अरुन्धती आदि श्रद्धापूर्ण हृदयसे उनके चरित्र और सौभाग्यकी महिमा गाकर अपनेको कृतकृत्य समझती हैं। वे वनमें रहनेवाली गोपबालाएँ इतनी मधुर हैं, इतनी रसाप्लावित हैं कि लक्ष्मीका प्रेम-सौन्दर्य इनके सामने धूमिल पड़ जाता है। गोपियोंकी अपेक्षा

मी श्रीकिशोरीजीकी विशेषता दिखलानेके लिये उज्ज्वल नीलमणिमें एक कथाका उल्लेख हुआ है—

रासके समय भगवान् गोपियोंके प्रेमकी और भी अभिवृद्धि करनेके लिये एक कुञ्जमें जाकर छिप गये। गोपियोंको उनके विना चैन कैसे पड़ती। वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी कुञ्जमें पहुँच गयीं, जिसमें श्रीकृष्ण छिपे हुए थे। अब पकड़े गये, तब पकड़े गये। नटवर श्रीकृष्णने वहीं एक लीला रच दी—द्विभुज से चतुर्भुज हो गये। गोपियाँ देखकर सकुचा गयीं। उन्हें इस ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूपसे क्या काम? ये तो भक्ति-नम्र हृदयसे दण्डवत् प्रणाम करनेके योग्य हैं! वे उनके चरणोंमें नमस्कार करके लौट गयीं। जब यह बात राधाके कानोंतक पहुँची, तब उन्होंने कहा—'चलो तनिक मैं भी तो देखूँ, यहाँ ईश्वर अथवा विष्णुका क्या काम? हो-न-हो हमारे नटवर मनमोहन श्यामसुन्दरकी ही कोई लीला होगी।' श्रीकिशोरीजीके वहाँ पहुँचते ही श्रीकृष्णको यह बात भूल गयी कि मैं चतुर्भुज रूप धारण किये हुए हूँ। अपनी प्राणप्रियाके दर्शनमात्रसे उनके कृत्रिम ऐश्वर्यका लोप एवं सहज माधुर्यका उदय हो गया। यहीं गोपियों और श्रीराधाका अन्तर परिस्फुट हो जाता है। गोपियाँ ऐश्वर्य सहन नहीं कर सकतीं, उन्हें केवल माधुर्य चाहिये और श्रीजीके सामने ऐश्वर्य ठहर नहीं सकता, मधुर रूपमें रहनेके लिये ही श्रीकृष्ण विवश हैं। राधाका श्रीकृष्णके प्रति जितना अधिक प्रेम है, उससे भी अधिक श्रीकृष्णका राधाके प्रति है। यहाँ न्यूनाधिक्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, दोनों प्रेम-स्वरूप हैं।

मधुररसके उद्दीपनोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उनको बतलाना भी कठिन है। यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें बहुत थोड़े-से लिखे जाते हैं—

(१) थोड़ी सेवासे रीझना, असह्य अपराध हो जानेपर भी मुस्करा देना, दूसरेके लवमात्र दुःखसे भी कातर हो जाना इत्यादि भगवान्‌के स्वभावसिद्ध गुण।

(२) इतनी रसमयी, मधुमयी और अश्रुतपूर्व प्रेमपूर्ण वाणी, जो प्राणोंमें और हृदयमें अमृतका सिञ्चन करती है।

(३) भगवान्‌की किशोर, यौवन आदि अवस्थाएँ, उनका रूप-लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य और मृदुलता आदि शारीरिक विशेषताएँ।

(४) वंशीवादन, नृत्य, सुन्दर खेल, गोदोहन, गोवर्द्धन-उद्धार, गवाह्वान और मत्तगतिसे गमन इत्यादि लीलाएँ।

(५) वस्त्र, आभूषण, माला, अनुलेपन आदि शारीरिक अलङ्कार।

(६) वंशी और शृङ्गकी ध्वनि, मधुर गायन, शरीरकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणोंकी झनकार, चरणचिह्न, उनका शिल्पकौशल आदि।

(७) श्रीकृष्णका प्रसाद, मयूरपिच्छ, गुञ्जा, धातुएँ, सखाओंका दीख जाना, गोधूलि, गोवर्द्धन, यमुना, कदम्ब, रासस्थली, वृन्दावन, भौंरे, हरिन, कुञ्ज, लताएँ आदि।

(८) मेघ, विद्युत, वसन्त, चाँदनी, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु, सुन्दर-सुन्दर पक्षी आदि।

अनुभाव तीन प्रकारके होते हैं—अलङ्कार उद्भास्वर और वाचिक। भाव, हाव, हेला—ये तीन शारीरिक; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात वेप्रयास ही होनेवाले तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम आदि दस स्वाभाविक—ये वीस अलङ्कार कहे जाते हैं। शरीरपरसे वस्त्रका गिर जाना, बाल खुल जाना, अङ्ग टूटना, लंबी साँस चलना—ये सब उद्भास्वर अनुभावके अन्तर्गत हैं। आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप आदि बारह प्रकारके वाचिक अनुभाव होते हैं। इनके अतिरिक्त मौग्ध्य और चकित नामके दो अनुभाव और भी होते हैं। अपने प्रियतमसे जानी हुई वस्तुको भी अज्ञानीके समान पूछना, यह मौग्ध्य है और भयका स्थान न होनेपर भी भयका बहाना करके प्रियतमके पास पहुँच जाना —जैसे भौंरेसे डरकर श्रीकृष्णसे लिपट जाना, यह चकित अनुभाव है। इस रसमें सभी प्रकारके सात्त्विक भाव उदय होते हैं—

(१) स्तम्भ—हर्षसे, भयसे, आश्चर्यसे अथवा अमर्षसे

(२) स्वेद—भगवान्‌के संस्पर्श, दर्शन आदि जनित आनन्दसे, अथवा क्रोधसे शरीरका पसीजने लगना।

(३) रोमाञ्च—आश्चर्यसे, हर्षसे अथवा भयसे शरीरका रोमाञ्चित हो जाना।

(४) स्वरभङ्ग—विषादसे, विस्मयसे, अमर्षसे, भयसे अथवा हर्षसे कण्ठका रुद्ध हो जाना, वाणीका स्वाभाविक ढंगसे नहीं निकलना।

(५) कम्प—त्राससे, हर्षसे और अमर्षसे शरीरका काँपने लगना।

(६) विवर्णता—विषादसे, रोषसे अथवा भयसे शरीरका विवर्ण हो जाना। (चेहरा फक हो जाना।)

(७) अश्रुपात—हर्षसे, रोषसे, विषादसे आँसू गिरना।

(८) प्रलय—सुखसे या दुःखसे शरीर और मनका अविचल हो जाना।

ये अपनी अभिव्यक्तिके तारतम्यसे धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं। यों तो सभी रसोंमें इन सात्त्विक भावोंका उदय होता है, परन्तु उनकी पूर्णता मधुर रसमें होती है। निर्वेद आदि तीसों भाव उग्रता और आलस्यको छोड़कर पूर्ण रूपसे इस मधुर रसमें ही अभिव्यक्त होते हैं। यदि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव—सबके लक्षण और उदाहरणकी चर्चा की जाय तो विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है। एक-एकके अनेक-अनेक भेद होते हैं, जैसे निर्वेद ही अनेक कारणोंसे होता है। वियोगके कारण होने वाले निर्वेदसे श्रीकिशोरीजी ललिता सखीसे कह रही हैं—

> न क्षोदीयानपि सखि मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे
> क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
> खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं
> ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटान् बिभर्मि॥

हे सखी! मुझमें श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है, तुम विश्वास करो; मेरा श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम था और मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ

प्रेमपात्र थी, अपने इस सौभाग्यकी ख्यातिके लिये ही मैं रो रही हूँ। सखि ! प्रेमकी यह कैसी विडम्बना है कि राग, स्वर, ताल और मूर्च्छनाके साथ बाँसुरीमें स्वरलहरी भरते हुए श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रको देखे विना ही, जीवनका सहारा टूट जानेपर भी मैं अपने प्राणरूपी कीड़ोंको, जो मुझे निरन्तर डस रहे हैं, धारण कर रही हूँ और इतना ही नहीं, उनका पालन कर रही हूँ।' श्रीजीके इन वचनोंमें कितना निर्वेद है, इसका अनुभव कोई सहृदय ही कर सकता है। इसी प्रकार सभी भाव श्रीजीके और गोपियोंके जीवनमें व्यक्त हुए हैं।

इस रसमें मधुर रति ही स्थायिभाव है। उसके अविर्भावके सात कारण बतलाये गये हैं। यथा—

(१) अभियोग—अपनी चेष्टाओं से हृद्गत भावोंका प्रकाश, वह चाहे प्रियतमके सम्मुख ही हो अथवा दूसरा कोई जाकर उससे कहे।

(२) विषय—शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयोंमेंसे किसी एकका या सबका आकर्षण—जैसे भगवान्‌की मधुर वाणी, वंशीध्वनि, अकस्मात् स्पर्श, सुन्दर रूपका दीख जाना इत्यादि।

(३) सम्बन्ध—उनके कुल, रूप आदि सामग्रीके गौरवसे उनके साथ सम्बन्ध-स्थापन।

(४) अभिमान—संसारमें यदि बहुत-सी उत्तम और रमणीय वस्तुएँ हैं तो वे रहें, मुझे तो यही चाहिये—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय।

(५) श्रीकृष्णकी विशेषताएँ—श्रीकृष्णके पदचिह्न, गोष्ठ और प्रियजन जो उनसे प्रेम करते हैं, उनका दर्शन, मिलन, वार्तालाप।

(६) उपमा—उनके समान कोई-सी भी वस्तु देखकर उनकी स्मृतिमें तल्लीन हो जाना। जैसे बादल देखकर घनश्यामकी स्फूर्ति, कमल देखकर कमलके समान नयनोंकी स्फूर्ति इत्यादि।

(७) स्वभाव—यह दो प्रकारका होता है, एक निसर्ग और दूसरा स्वरूप। दृढ़ अभ्यास करते-करते जो संस्कार बन गये हैं, गुण, रूप और नामके किञ्चित् श्रवणमात्रसे उनका उद्बोधन निसर्गके नामसे कहा जाता है—जैसे रुक्मिणीका। स्वरूप वह है जिसमें किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती, स्वतःसिद्ध प्रेम भाव होता है—जैसे व्रजदेवियोंका।

मधुररति ही क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके रूपमें परिणत होती है। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है कि जैसे ईखका नन्हा-सा अंकुर क्रमशः ईख, रस गुड़, खण्ड, चीनी, मिश्री और ओलेका रूप धारण करता है, वैसे ही यह रति भी भावके रूपमें परिणत होकर पूर्णताको प्राप्त होती है। रतिसे भावपर्यन्त सभी प्रेम शब्दके द्वारा कहे जाते हैं। प्रेमी और प्रियतमके उस भावसम्बन्धको, जो नाशका कारण उपस्थित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रेम कहते हैं। इसके प्रौढ़, मध्य और मन्द—तीन भेद होते हैं। वियोगकी असहिष्णुता, दुःखपूर्वक सहिष्णुता और यदा-कदा किञ्चित् विस्मृति—क्रमशः यही तीनोंके स्वरूप हैं। यही प्रेम जब और भी उद्दीप्त होकर हृदयको

अतिशय द्रवित कर देता है, जिससे दर्शन-स्पर्शमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, तब उसे स्नेह कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—अङ्गसङ्गमें अतृप्ति, दर्शनमें अतृप्ति और नाम-गुणके श्रवण आदिमें अतृप्ति। ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। स्नेह दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह। पहलेमें कुछ आदरभाव रहता है और दूसरेमें केवल अतिशय ममता। घृतस्नेहमें थोड़ा उन्माद और अपनापन भी रहता है। घृतस्नेहमें 'मैं उनका हूँ', यह भाव रहता है और मधुस्नेहमें 'वे मेरे हैं,' यह भाव रहता है। स्नेह ही उत्कर्षको प्राप्त होकर नवीन माधुर्यके साथ मानके रूपमें प्रकट होता है। इसके दो भेद हैं—उदात्त और ललित। उदात्त मानमें घृतस्नेहकी विशेषता रहती है—अनुकूलता अधिक और प्रतिकूलता कम। ललित मानमें मधुस्नेहकी प्रधानता रहती है—प्रतिकूलता अधिक और अनुकूलता कम। यही मान जब सम्भ्रम रहित होकर अत्यन्त विश्वासके साथ परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होता है, तब प्रणय नाम धारण करता है। प्रणय दो प्रकारका होता है—मैत्र और सख्य। विनययुक्त विश्वास मैत्र है और प्रियतमको अपने वशमें रखने वाला उन्मुक्त विश्वास सख्य है। यह प्रणय ही आगे चलकर रागके रूपमें अनुभवका विषय होता है।

जिसमें अधिक-से-अधिक दुःख भी सुखके रूपमें ही अनुभव होने लगता है, प्रणयकी उस उत्कृष्ट अवस्थाको ही राग कहते हैं। यही गुप्त रहने पर नीलीराग और प्रकट होनेपर श्यामारागके नामसे कहा जाता है। और भी इसके अनेकों भेद हैं। यह राग प्रतिक्षण वर्द्धमान और नवनवायमान होकर अनुरागके

रूपमें प्रकट होता है। यह प्रतिक्षण अनुभूयमान प्रियसमागमको और प्रियतमको भी नित्य नूतन बनाता रहता है। इस अवस्थामें ऐसा मालूम होता है—अभी मिलन हुआ है, अभी मैंने पहले-पहल देखा हैं। इसमें प्रेमी और प्रियतम एक दूसरेके अधीन रहते हैं। प्रियतमके सम्मुख रहनेपर भी वियोगकी आशङ्कासे मृत्युके समान दुःखका अनुभव होने लगता है और इस अवस्थाको देखकर स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण भी चकित—स्तम्भित रह जाते हैं। इसीका नाम प्रेमवैचित्त्य है। अनुरागकी इस स्थितिमें संयोग होने पर भी अतृप्तिकी सीमा नहीं रहती। ऐसी लालसा होती है—यदि मैं बाँस बन जाती तो बाँसुरीके रूपमें नित्य-निरन्तर प्रियतमके अधरोंकी सुधा-मधुरिमाका आस्वादन करती रहती। यदि कहीं इस अवस्थामें प्रियतमका विछोह हुआ तो जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उनके दर्शन होते हैं। इसी अवस्थाके सम्बन्धमें कहा गया है कि संयोगसे वियोग हीं उत्तम है; क्योंकि संयोगमें अपने प्राणनाथ अकेले रहते हैं और वियोगमें सारा संसार ही उनका रूप हो जाता है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ स्वसंवेद्य एवं अनिर्वचनीय हैं, तथापि अब तक जिनका वर्णन हुआ है, वे रसिकोंके द्वारा अनुमेय तथा ज्ञेय हैं। भगवान्की द्वारकास्थित नित्य सहचरियोंमें भी इनका प्रकाश होता है और व्रजदेवियोंमें तो ये सहज स्वभावसिद्ध रूपसे ही रहती हैं। यह अनुराग ही जब परसंवेद्यतासे ऊपर उठकर स्वसंवेद्य रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, जब प्रेमी अनुरागीके रूपमें न रहकर अनुरागस्वरूप हो जाता है, श्रीकृष्णकी अनुभूतिका सुख, प्रेमकी अनुभूतिका सुख और सुखकी ऐसी अनुभूति होती है जिसे अनुभूति

कहना भी नहीं बनता, तब उस अनुरागकी ही भाव संज्ञा होती है। द्वारकाकी श्रीकृष्णपत्नियोंके लिये भी यह अत्यन्त दुर्लभ है। व्रजकी देवियोंमें इसीका नाम महाभाव है। दूसरे किसीको भी इसकी उपलब्धि नहीं होती। यह अमृतस्वरूप श्रेष्ठ रस है, इसे आनन्दकी सीमा कहते हैं। इसमें दिव्य प्रेमी दिव्यतास्वरूप ही होता है। इसके दो भेद हैं--रूढ महाभाव और अधिरूढ महाभाव। जिस महाभावमें सात्त्विक भाव उद्दीप्त रहते हैं, उसे रूढ महाभाव कहते हैं। इसमें प्रियतमके दर्शनसुखमें बाधक होनेके कारण पलकोंका गिरना भी असह्य हो जाता है—'**यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।**' इस स्थितिके प्रेमीको—व्रज-देवियोंको देखनेवाले प्रेम समुद्रमें डूबने-उतराने लगते हैं। स्वयं लक्ष्मी भी चकित—स्तम्भित हो जाती हैं। इस परम रसमें कल्पान्त पर्यन्त मग्न रहनेपर भी एक क्षण-जितना भी मालूम नहीं होता। प्रियतमको सुख मिलनेपर भी कहीं उन्हें कष्ट न पहुँच जाय, इस आशङ्कासे खेद होने लगता है। गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णके चरणकमल रखते समय डरने लगती हैं कि कहीं इसकी कर्कशता उनके दुःखका कारण न हो जाय—'**भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।**' प्रेमकी इस सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें, जहाँ मोह आदि प्राकृत भावोंका प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है, अपनेको, परायेको, सबको भूल जाना और श्रीकृष्णके बिना एक क्षणका भी कल्पसे अधिक मालूम होना इस रूढ महाभावकी असाधारण विशेषता है— '**त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।**'

रूढ महाभावमें जो अनुभाव होते हैं, उनकी अपेक्षा और भी विशिष्ट—जिनका निर्वचन नहीं किया जा सकता—अधिरूढ महाभावमें

प्रकट होते हैं। यदि समस्त मोक्षसुख अथवा ब्रह्मसुखको और त्रैकालिक संसार-सुखको एक स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय और संसारके समस्त त्रैकालिक दुःखोंको दूसरे स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय तो ये दोनों ही इस अधिरूढ महाभावके सुख-दुःखरूपी महासागरकी एक बूँदके समान भी नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँका दुःख जागतिक दुःख-जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह भी दिव्य रसका ही एक रूप है। इस दुःखके लेशमात्र की समतामें संसारके समस्त सुख तुच्छ हैं। इसीसे यह दुःख भी परम पुरुषार्थ प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप है। अधिरूढ महाभावके दो प्रकार हैं—मोदन और मादन। जिसमें सात्त्विक भाव प्रेमी और प्रियतम दोनोंमें ही सूद्दीप्त रूपसे प्रगट रहते हैं, दोनों ही स्तम्भित-कम्पित रहते हैं, उसको मोदन कहते हैं। दोनोंको इस अवस्थामें देखकर प्रेमी भी विक्षुब्ध हो जाते हैं। दोनोंके प्रेमकी सम्पत्ति समस्त चराचरकी प्रेम-सम्पत्तिसे बढ़ जाती है। यह मोदन ही विरहकी अवस्थामें मोदन कहा जाता है। इसमें भी विरहकी विवशतासे प्रिया-प्रियतम दोनोंमें सात्त्विक भाव सूद्दीप्त रहते हैं। इसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण हैं। इस मोदन दशामें द्वारकास्थित अन्य पत्नियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी राधाका स्मरण करके श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं वृन्दावनमें यमुनातटवर्ती निकुञ्जमें श्रीजीके साथ रास-विलास कर रहा हूँ। असह्य दुःख स्वीकार करके भी जिस प्रकार अपने प्रियतम सुखी हों, वही चेष्टा इसमें की जाती है। इस सम्बन्धमें गोपियोंका कितना सुन्दर भाव है, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनने योग्य है—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि ।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ॥

'यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन आ जायँ तो हमें बड़ा सुख होगा, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु यदि यहाँ आनेसे उनकी तनिक भी हानि हो, तो वे यहाँ कभी न आयें । यद्यपि उनके यहाँ न आनेसे हमें महान् दुःख होगा, तथापि यदि वहाँ रहनेमें ही सुख होता है तो वे सुखपूर्वक वहीं निवास करें ।' कहना न होगा कि गोपियोंका यह भाव प्रेमकी अत्यन्त ऊँची स्थितिका उद्गार है । इस स्थितिके प्रेमीका जीवन, उसका श्वास-प्रश्वास निखिल ब्रह्माण्डमें प्रेमका सञ्चार कर देता है । इस अवस्थाका प्रेमी जब तारस्वरसे रुदन करने लगता है, तब पशु-पक्षी भी, यहाँतक कि लता-वृक्ष भी उसके साथ रोने लगते हैं । प्रेमी अपनी मृत्युकी आशङ्कासे इस जन्ममें प्रियतमका मिलना असम्भव देखकर यह अभिलाषा करने लगता है कि मेरे शरीरके पञ्चभूत मृत्युके पश्चात् भी प्रियतमकी सन्निधिमें रहकर उनकी सेवामें लगें—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन—
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

'शरीरकी मृत्यु हो जाय, पाँचों भूत अपने-अपने मूल कारणमें विलीन हो जायँ—इसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है

परन्तु उनके सम्बन्धमें परमात्माको प्रणाम करके मैं एक वरदानकी मेरे प्रार्थना करता हूँ। जिस बावलीका वे जल पीते हैं उसमें मेरे मार्गमें शरीरका जलांश, जिस दर्पणमें वे अपना मुख देखते हैं उसमें शरीरकी ज्योति, उनके आँगनके आकाशमें मेरे शरीरका आकाश, उनके मार्गमें मेरे शरीरकी मिट्टी और उनके पंखेके आकाशमें मेरे शरीरकी हवा मिल जाय।' प्रेमकी कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! यही मोदन दशा आगे चलकर दिव्योन्मादका रूप धारण करती है। इसमें प्रेमी प्रियतमके लिये उनके न होनेपर भी शय्या सज्जित करता है, अपना शृङ्गार करता है और विरहोद्भ्रान्त होकर नाना प्रकारकी चेष्टा करता है। प्रियतमके सुहृदोंको देखकर अनेकों प्रकारके प्रलाप करने लगता है। जल्प, प्रजल्प आदिके भेदसे वे दस प्रकारके होते हैं, जो श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धान्तर्गत भ्रमरगीतमें सुस्पष्टरूपसे प्रकट हुई हैं। प्रायः ये भाव श्रीराधामें ही पूर्ण रूपसे प्रकाश पाते हैं।

रतिसे लेकर महाभावपर्यन्त जितने भी भाव हैं—सब जब उल्लसित हो जाते हैं, तब संयोग अवस्थामें आह्लादिनीका सार एवं सर्वश्रेष्ठ मादन नामका परात्पर भाव उदय होता है। इसका उदय राधाके अतिरिक्त किसीमें नहीं होता। इसकी स्थिति विचित्र ही होती है। भगवान्का सर्वदा संयोग रहनेपर भी उनके वक्षःस्थलपर नित्य विराजमान वनमालाके साथ इस अवस्थामें ईर्ष्या होने लगती है और ऐसे भाव उठने लगते हैं कि 'री वनमाले! तू हमारा तिरस्कार करके नित्य-निरन्तर प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करती रहती है। यह तो हम लोगोंके प्रति तेरा विद्वेष ही है।' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि इस अवस्थाके ईर्ष्यादि भाव भी दिव्य ही होते हैं। इस

मादनकी अनेकों दशाएँ और अनिर्वचनीय गतियाँ हैं। संयोगलीलाके अधिकांश भेद इसीके अन्तर्गत हैं। लीलाभेदसे जो भावभेद होते हैं, उनकी कल्पना भी साधारण चित्तमें नहीं आ सकती। मधुररसमें यही सब लोकोत्तर चमत्कारी भाव, जो कि रसरूप हैं, विकास और पूर्णताको प्राप्त होते हैं। श्रीराधाजी महाभावस्वरूपिणी हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें समस्त भावोंकी अपेक्षा इस महाभावकी उत्कृष्टताका वर्णन करके कहा गया है।

ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम नाम।
आनन्दे चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानि॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभाव हय चिन्तामणि-सार।
कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य यार॥
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी यार कायव्यूहरूप॥

यह मधुर महाभावरूपा परिपुष्ट मधुरति ही मधुररस, उज्ज्वलरस अथवा दिव्य शृङ्गाररसके नामसे कही जाती है। यद्यपि इस अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, तथापि संयोगकी परिपुष्टिके लिये वह भी होता है। इसलिये इस रसके दो भेद हो जाते हैं—एक तो संयोग और दूसरा वियोग। वियोगकी चार अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास। श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे, स्वप्न-दर्शनसे अथवा चित्र-दर्शनसे

इसकी उत्पत्ति होती है। वन्दीजन, दूती, सखी और किसी गायकके मुखसे श्रीकृष्णके सद्गुण, सौन्दर्य आदिका श्रवण करनेसे भी पूर्वरागका सञ्चार होता है। मधुररतिके उदयके प्रसंगमें जो अभियोग आदि हेतु बतलाये गये हैं, वे सब इसमें भी कारण हैं। यह प्रौढ़, समञ्जस और साधारण—भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसमें व्याधि, शङ्का, असूया आदि सभी संचारी भावोंका उदय होता है। प्रियतमकी प्राप्तिके लिये लालायित रहना, चित्तका उद्विग्न होना, नींद न आना, शरीरका दुबलापन, जड़ हो जाना, चित्तका व्यग्र होना, शारीरिक व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्युपर्यन्तकी अवस्थाएँ पूर्वरागमें भी प्राप्त होती हैं। प्रियतमका स्मरण, उनकी प्राप्तिके उपायकी चिन्ता, उनके गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन, पत्र-प्रेषण आदि इसके विशेष चिह्न हैं। मानका प्रसङ्ग बहुत ही प्रसिद्ध है और भावोंके प्रसंगमें प्रेमवैचित्त्यका उल्लेख किया जा चुका है। इसलिये इनका पिष्टपेषण उचित नहीं जान पड़ता।

मिलनके पश्चात् प्रिया-प्रियतमके समागममें जो व्यवधान होता है, उसे प्रवास कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक तो जान-बूझकर और दूसरा विवशतासे, अनजानमें। थोड़ी दूर और थोड़ी देरका प्रवास एवं बहुत दूर और बहुत दिनोंका प्रवास; इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानका प्रवास; दैवी कारणोंसे अथवा लौकिक कारणोंसे प्रवास। इन सभी प्रवासोंमें श्रीकृष्णकी ही चिन्ता, जागते रहनेके कारण स्वप्नमें भी नहीं आना, हृदयमें आग जलती रहना, शरीरका सूख जाना, मैला-कुचैला रहना, प्रलाप करना और

हृदयमें अत्यन्त सन्ताप रहना—यही सब दशाएँ होती हैं। श्रीराधा ललितासे अपनी व्याधिका वर्णन कर रही है—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविशूचिका निचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

'जो स्वर्णके जलते हुए द्रवसे भी अधिक तापकारी है, कालकूट विषसे भी अधिक क्षुब्ध करनेवाला है, वज्रसे भी अधिक दुस्सह है, हृदयमें बिंधे हुए शल्यसे भी अधिक तीखा है और उग्र विषूचिकाओंके समूहसे भी अधिक तीव्र है, वही यह श्रीकृष्णके वियोगका तीव्र ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको बेध रहा है।'

श्रीकृष्णके वियोगमें कभी हँसना, कभी रोना, निष्प्रयोजन भटकना, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षोंसे भी प्रियतमका पता पूछना और जमीनमें लोटना आदि उन्मादके बहुत-से लक्षण प्रगट हो जाते हैं। दुःखकी अधिकतासे कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञानशून्य हो जाना और मरकर फिर जीना और फिर वही अवस्था। इस प्रकार एक क्षणके लिये भी विरहके पंजेसे छुटकारा नहीं मिलता। प्रेमकी सभी अवस्थाओंमें वियोगकी मर्मवेधिनी पीड़ा होती है और उनके अनुभाव भी प्रकट होते हैं। अधिरूढ महाभावमें मोदन दशाका वर्णन करते हुए जो कुछ कहा गया है, उसे यही स्मरण कर लेना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि वह तो बहुत कम है। विरहीकी वेदना कोई विरही ही जान सकता है, सो भी यदि उसी श्रेणीका हो। प्रकट लीलाके अनुसार विरहकी परिपूर्णता व्रजदेवियोंमें ही देखी जाती

है। अन्तर्लीलामें तो उनका एकरस विहार सदा-सर्वदा चलता ही रहता है।

भगवान्‌का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुरसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। वैसे तो सभी रस हैं; परन्तु यह रसराजकी भी सरस अवस्था है। यह दिव्य उज्ज्वल शृङ्गार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा और कहीं नहीं। यह स्वप्न और जाग्रत्‌के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वप्नका संयोग अत्यन्त गौण है, फिर भी भगवान्‌के साथ मानस संयोग होनेके कारण उसकी रसरूपतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। जागरणमें जितने प्रकारके संयोग और उसकी लीलाएँ हो सकती हैं, उनसे भी अधिक स्वप्नमें सम्भव हैं। प्रेमियोंका स्वप्न साधारण स्वप्न नहीं है। मूढ़ पुरुषोंके जागरण और योगियोंकी समाधिसे भी उसका ऊँचा स्थान है। प्रेमियोंका दिव्य मन समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से ऊपर उठा हुआ, दिव्य होता है। अन्तःकरणके साधारण विकार—स्वप्नका उस प्रेमराज्यमें प्रवेश नहीं है। इसलिये प्रेमियोंका भगवत्संयोगरूप दिव्य स्वप्न भी अलौकिक ही होता है।

जाग्रत् अवस्थामें चार प्रकारके संयोग होते हैं—संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्। व्रजदेवियोंके जीवनमें ये सभी अपने अवान्तर भेदों सहित अनुभवके विषय होते हैं। उनका वर्णन लेखविस्तार-भयसे नहीं किया जाता। संयोगकी लीलामें प्रियतमका दर्शन, साथ वार्तालाप, उनका स्पर्श, उनके साथ वृन्दावनके

निकुञ्जोंमें रहस्यक्रीड़ा, जल-विहार, रासलीला, नौकालीला, वेषपरिवर्तन, कपटशयन, वंशीचौर्य्य, मार्गरोधन आदि अनेकों लीलाएँ होती हैं—जिनका अनुभव कोई गोपीभावापन्न सरसहृदय प्रेमी ही कर सकता है। भगवान्के लीलाप्रतिपादक ग्रन्थोंमें इन लीलाओंका अत्यन्त हृदयस्पर्शी भाषामें वर्णन हुआ है। मधुररसके रसिकोंको वहींसे उनका आस्वादन करना चाहिये।

यहाँतक हमने भक्तिरसकी जिन पाँच धाराओंमें अवगाहन किया है और जिनमें डूब-डूबकर सम्पूर्ण प्राणसे और उन्मुक्त हृदयसे रसास्वादन किया है, वे सब-के-सब स्वर्गीय सुधा और मोक्षसुखको भी तिरस्कृत करनेवाले परमामृतस्वरूप दिव्य रस हैं, इसमें सन्देह नहीं। इनमें उत्कृष्ट और निकृष्टका भेद करनेका हमें कोई अधिकार नहीं। जिस प्रेमीको जिस रसकी अनुभूति हुई है, उस रसके रूपमें उसे भगवान्की ही अनुभूति हुई है; क्योंकि भगवान् ही रसस्वरूप हैं। उनकी अनुभूति ही वास्तविक रसानुभूति है। इसलिये हम नम्र हृदयसे प्रेमपरिप्लुत होकर उनके प्रेमको ही, युगल सरकारके उस लोकोत्तर महाभावस्वरूपको ही प्रणाम करें—

आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणं
पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवनवतासम्पदं मादनत्वात्
अद्वैत नौमि राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम्॥*

---

* इस विषयमें जिनको विशेष जानना हो, वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' नामक संस्कृत ग्रन्थोंको पढ़ें।

परम तात्पर्य

(१)

सत्यं परं धीमहि (१ । १ । २)

सत्यं परं धीमहि (१२।१३।१९)

प्रथम स्कन्धके प्रथम श्लोकमें ही परम सत्यके चिन्तनका निर्देश है। परम सत्य वह है जो जगत्का उपादान और निमित्त दोनों ही है। उसीसे नाम-रूपात्मक प्रपञ्चके आकार, विकार एवं प्रकार प्रकट हुए हैं, उसीमें हैं और उसीमें समा जायँगे। प्रपञ्चकी अभिव्यक्ति होनेपर भी वह उसमें अनुगत है और अनुगत होते हुए भी उनसे व्यतिरिक्त अर्थात् प्रपञ्चके गुणधर्मोंसे असंस्पृष्ट है। वह न केवल स्थूल द्रव्योंमें प्रत्युत सम्पूर्ण जीव बुद्धियोंमें एवं एक जीव हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें भी अनुगत है और उन्हें सत्ता-स्फूर्ति देता रहता है। वस्तुतः त्रिविध सृष्टि बिना हुए ही उसमें भास रही है और उसकी सत्तासे ही पृथक्-पृथक् पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं। वह स्वयंप्रकाश सर्वावभासक एवं अविद्या मायाके स्पर्शसे भी रहित है। ऐसे अद्वितीय ज्ञानस्वरूप परम सत्यके चिन्तनके लिये ही श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ हुआ है।

इस उपक्रमके अनन्तर एक दृष्टि उपसंहार पर भी डाल ली जाय। ठीक वही शब्द हैं। वह परम सत्य स्वरूपसे शुद्ध, आगन्तुक

मलोंसे रहित, शोक और मृत्युसे वर्जित है। उसको जान लेनेपर जन्म-मृत्यु नहीं, शोक-मोह नहीं, आवरणादि दोष नहीं। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थका प्रारम्भ और अन्त दोनों परम सत्यके चिन्तनके लिये ही हैं।

(२)

यज्ज्ञानमद्वयम् (१।२।११)

धर्म अन्तःकरण शुद्धिके द्वारा मोक्षका हेतु है, धनका नहीं। धन धर्मका हेतु है, भोगका नहीं। भोग जीवन निर्वाहके लिये है, इन्द्रियतृप्तिके लिये नहीं। जीवन तत्त्व-जिज्ञासाके लिये है, बहुत कर्म करनेके लिये नहीं। फिर तत्त्व क्या है? तत्त्ववेत्ता लोग, तत्त्वका स्वरूप बतलाते हैं, वह क्या है—अद्वय ज्ञान। अद्वयका क्या अर्थ है? ज्ञाता अर्थात् जीव और ईश्वर, ज्ञेय अर्थात् व्यष्टि-समष्टि, कार्य-कारण, व्यक्त एवं अव्यक्त रूपसे रहने वाला प्रपञ्च; इन दोनोंसे जो सर्वथा रहित है अर्थात् दोनोंके भावाभावका अधिष्ठान स्वयंप्रकाश चेतन है, वह ज्ञानस्वरूप ही अद्वय तत्त्व है। इसीको शास्त्रकी परिभाषाके अनुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌के नामसे कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवत में जहाँ-जहाँ 'ब्रह्म' 'परमात्मा' एवं 'भगवान्' शब्दके प्रयोग किये गये हैं वहाँ-वहाँ इसी अद्वय ज्ञानतत्त्वको सूचित करनेके लिये। यह श्रीमद्भागवतमें शास्त्रका परिभाषा-वचन है। यदि स्वाध्यायशील व्यक्तिके हृदयमें इसका अभिप्राय ठीक-ठीक जम जाय तो भागवतका परम तात्पर्य समझनेमें किसी प्रकारकी अड़चन नहीं पड़ेगी।

(३)

इति तद् ब्रह्मदर्शनम् (१।३।३३)

वृत्तिज्ञानकी जिस दशामें यह निश्चय हो जाता है कि यह जितने भी स्थूल और सूक्ष्म रूप प्रतीत होते हैं, यह सब प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे ही अपने-आपमें प्रतीत होते हैं। यह वस्तुतः सत्य नहीं हैं और अपने स्वरूपका दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार हो जानेपर जब इनका नितान्त निषेध, अपवाद अथवा बाध हो जाता है तब उस अविद्यातत्कार्यनिवर्तक ज्ञानको ही ब्रह्मदर्शन कहते हैं। ठीक यही बात दूसरे स्कन्धमें दसवें अध्याय के पैंतीसवें श्लोकमें कही गयी है। पहले स्कन्धमें 'त्वंपदार्थ' की प्रधानतासे प्रपञ्चका निषेध है और दूसरे स्कन्धमें 'तत्पदार्थ'की प्रधानतासे। स्पष्ट कह दिया गया है कि कार्यकारणरूप प्रपञ्च भगवान्‌के ही रूप हैं; परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष उन्हें मायाकी सृष्टि जानकर सत्यरूपसे ग्रहण नहीं करते। इसलिये अद्वितीय ब्रह्म ही परम सत्य तत्त्व है। तीसरे स्कन्धके बत्तीसवें अध्यायमें कहा गया है कि अद्वितीय अर्थात् ज्ञाता-ज्ञेयमें द्वैतसे रहित ज्ञान ही निर्गुण ब्रह्म है। बहिर्मुख इन्द्रियोंके कारण-ही वह शब्द, स्पर्शादि धर्मसे युक्त पदार्थोंके रूपमें प्रतीत होता है और भ्रान्तिसे वे पदार्थ सत्य माने जाते हैं। एक परब्रह्म परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे एक ही वस्तु विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् रूपमें अनुभवका विषय होती है, इसी प्रकार शास्त्रोक्त विभिन्न साधन-पद्धतियोंसे एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें अनुभवके विषय होते हैं।

पुरञ्जनोपाख्यानमें देह, इन्द्रिय और मनके धर्मोंका अपने-आपमें अध्यास कर लेनेके कारण ही यह आत्मा अपनेको कर्ता, भोक्ता एवं बद्ध मान बैठता हैं और दुःख पाता है—यह बात कही गयी है '**ममाहमिति कर्मकृत्**'। जडभरतोपाख्यानमें विशुद्ध अद्वय ज्ञानको ही परमार्थ कहा गया है और उसीका नाम भगवान् और वासुदेव भी है। वह बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे रहित है। उसके अतिरिक्त जो भेद-विभेद हैं वे सब अविद्याके कारण मनःकल्पित हैं।

द्वितीय स्कन्धके चतुःश्लोकी भागवतमें नारायण अपने आदि-कालीन स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था तथा केवल था ही था। मेरे अतिरिक्त सत् असत् या इनसे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं थी। इनके न रहने पर भी मैं ही रहता हूँ। जो प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ। सबका निषेध कर देनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वह भी मैं ही हूँ। माया से ही असत् प्रपञ्च सत्-सा और सद्ब्रह्म असत्-सा भासता है। यथा मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पाषाण आदि नाना नाम-रूपोंमें महाभूत पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं, वैसे ही मैं सबमें विद्यमान और विवर्तमान हूँ। मैं सबसे व्यावृत्त रहकर भी सबमें अनुवृत्त हूँ। मैं अविनाशी एवं पूर्ण हूँ। तत्त्व-जिज्ञासुके लिये केवल यही आत्मज्ञान पर्याप्त है। नारायणकी इस युक्तियुक्त उक्तिसे यह सिद्ध है कि परमात्मा भूत, भविष्य, वर्तमानरूप कालभेदसे बाह्य, अन्तर एवं अन्तरालरूप देशभेदसे तथा सजातीय-विजातीय-स्वगतरूप वस्तुभेदसे सर्वथा रहित है। इसका अभिप्राय ही यह है कि परमात्मा अद्वितीय ज्ञान स्वरूप है। ज्ञाता एवं ज्ञेयका पृथक् स्वरूप मिथ्या है।

वे केवल परमात्माके रूपमें ही सत्य हैं। इसकी व्याख्या करनेके लिये श्रीमद्भागवतमें सैकड़ों प्रसङ्ग हैं।

(४)

अहं ब्रह्म परं धाम (१२।५।११।१२)

श्रीशुकदेवजी महाराजने सारे श्रीमद्भागवतका उपदेश करनेके अनन्तर अन्तमें राजा परीक्षितसे कहा कि 'तुम ऐसा अनुसन्धान करो कि मैं स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हूँ। परमार्थ स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार निष्कल ब्रह्ममें अभेदरूपसे आत्माका सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लेनेपर यह शरीर और विश्व भी आत्मासे पृथक् नहीं रहेगा।' इसके पश्चात् राजा परीक्षितने कृतज्ञता प्रकट की—'आपने ज्ञान-विज्ञाननिष्ठाके द्वारा मेरे अज्ञानका निरसन कर दिया और मुझे परमात्मपदकी प्राप्ति हो गयी।' इसके बाद परीक्षितने अपनेको ब्रह्म अनुभव कर लिया। यही श्रीमद्भागवतके श्रवणका फल है। इस प्रकारके प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर हैं। सनत्कुमारने पृथुसे कहा '**तमवेहि सोऽस्मि**'। पुरञ्जनोपाख्यानमें ईश्वरने अपने सखासे कहा—'मित्र मैं ही तुम हूँ। तुम कोई दूसरे नहीं हो। तुम्हीं मैं हो—तुम इस प्रकारका अनुभव प्राप्त करो; क्योंकि ब्रह्मानुभवी महापुरुष मुझमें और तुममें अर्थात् ईश्वर और जीवमें कभी कुछ भी अन्तर नहीं देखते।' यथा—

> 'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
> न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥

कितना स्पष्ट वर्णन है—

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः ।
मायामात्राणि विज्ञाय तद् द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥
येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा ।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥
(६।१६।५३-५५)

......एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥
(६३)

'जैसे एक व्यक्ति स्वप्नावस्थामें सो गया और फिर निद्रावस्थामें स्वप्नान्तर होनेपर अपनेमें ही सम्पूर्ण विश्व देखता है और फिर वह दूसरा स्वप्न टूट जानेपर पहले स्वप्नमें ही जागता है और देखता है कि मैं संसारके एक होनेमें स्थिर हूँ। मैं स्वप्नसे जग गया हूँ, अब उठ बैठा हूँ; परन्तु वस्तुतः वह भी एक स्वप्न ही है, वैसे ही जीव एक शरीरके सोनेपर उसमें स्वप्न देखता है और जागनेपर समझता है कि स्वप्न टूट चुका है; परन्तु अभी तो यह जागा हुआ पुरुष भी स्वप्नपुरुष ही है। यह जागरण आदि प्रतीयमान अवस्थाएँ मायामात्र ही हैं, समझकर अपने सर्वोपरि द्रष्टास्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये। शयनके समय पुरुष जिस चिन्मात्र सत्स्वरूकी अधिष्ठानतामें निद्रा और उसके अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है, वह निर्गुण ब्रह्म मैं ही हूँ। और तुम इस ब्रह्मस्वरूप मुझको अपना आत्मा जानो।'

'साधन-साध्यके स्वरूपको समझनेमें निपुण पुरुषोंको भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ-परमार्थ केवल इतना ही है कि वह आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार करे।'

इस सम्बन्धमें कहाँ तक उदाहरण दिये जायँ, बारहवें स्कन्धके तेरहवें अध्यायका यह एक श्लोक ही पर्याप्त है—

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥
(१२।१३।१२)

'सम्पूर्ण वेदान्तका सार है अद्वितीय वस्तु। यह कल्पना, भाव, फल अथवा स्थिति नहीं है। यह आकारके आरोपसे विनिर्मुक्त तत्त्ववस्तु है। इसका एकमात्र लक्षण है ब्रह्म और आत्माकी एकता। उसीमें इसकी निष्ठा अर्थात् परम तात्पर्य है और इससे केवल कैवल्यरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है। यह सालोक्य, सामीप्य आदि मुक्तियोंके लिये नहीं है; क्योंकि कैवल्यमुक्ति केवल ब्रह्मात्मैक्यबोध से होती है। श्रीमद्भागवतके परम तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि श्रीमद्भागवतमें संन्यासियोंके आत्मचिन्तनकी जो प्रक्रिया बतलायी गयी है—विशेषकर मृत्युके समय, उसका स्वरूप यह है—

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।
ज्ञात्वा द्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः ॥
(७।१२।३१)

और जीवनकालमें भी इस प्रकार अनुसन्धान करे—

आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ।

तथा—

पश्यन् बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ।
(७।१३।५)

इन श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट कही गयी है कि संन्यासी अपने आपको परब्रह्मके रूपमें जाने, बन्धन और मोक्षको वास्तविक न समझे । वे केवल मायामात्र हैं ।

(५)

ब्रह्मणि निष्कले

महापुरुषोंकी अन्तिम गतिके अनेक प्रसङ्ग हैं । भगवान्‌के विशेष अनुग्रहभाजन अजामिल, अघासुर आदि कुछ व्यक्तियोंको तो अन्तिम गतिके रूपमें भागवत देहकी प्राप्ति हुई है; परन्तु उनके अतिरिक्त जिन-जिन महापुरुषोंकी अन्तिम गतिका वर्णन है—ब्राह्मी स्थिति अथवा ब्रह्मनिर्वाणके रूपमें ही है । भीष्मके प्रसङ्गमें—'आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्' अर्थात् आत्मस्वरूप श्रीकृष्णमें अपने-आपको मिलाकर वे निष्प्राण-उपरत हो

गये। इसका अर्थ है कि उनके सूक्ष्म शरीरका कहीं गमन नहीं हुआ। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इस श्रुतिके अनुसार उनके प्राण यहीं लीन हो गये। इसलिये कहा गया कि 'सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।' महात्माओंने देखा कि भीष्म निरवयव ब्रह्मसे एक हो गये हैं। इसी प्रकार अर्जुन भी तत्त्वज्ञानके द्वारा लिङ्गशरीरसे मुक्त होकर पुनर्जन्मरहित गतिको प्राप्त हुए। देखिये, पन्द्रहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक। युधिष्ठिरने भी 'सर्वमात्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये' (१।१५।४२) और वे ब्रह्मसे एक हो गये। श्रीमद्भागवतका अनुसन्धान करनेवालोंके लिये जितने भी सत्पुरुषोंके निर्वाण-प्रसङ्ग हैं उनमें देखनेयोग्य एकरूपता है।

(६)

त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः (१०।१९।३०)

आत्मा और परमात्माकी एकता सिद्ध वस्तु है—यह निश्चय तबतक नहीं हो सकता, जबतक दोनोंकी उपाधि, व्यष्टि, समष्टिरूप प्रपंचका मिथ्यात्व सिद्ध न हो। हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर उभयविध प्रपंचको भ्रम, मृषा, माया, भानमात्र इत्यादि शब्दोंसे कहा गया है। उदाहरणके लिये पृथ्वी भगवान् श्रीकृष्णसे कह रही है—

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः॥
(१०।५९।३०)

भगवन् ! मैं (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृदेवता, अहंकार और महत्तत्त्व— कहाँ तक कहूँ, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके अद्वितीय स्वरूपमें भ्रमके कारण ही पृथक् प्रतीत हो रहा है ।'

इसी प्रकार वेदस्तुतिमें कहा गया है कि जो लोग कर्म और कर्मफलरूप व्यवहारको सत्य बतलाते हैं वे केवल अध्यारोपसे ही ऐसा कहते हैं । आत्माका कर्तृत्व-भोक्तृत्व अज्ञानसे ही है । ज्ञानस्वरूप परमात्मा इन सबसे परे है और उसमें यह सब कुछ नहीं है (१०।८७।२५) । छत्तीसवें श्लोकमें बतलाया गया है कि अविद्या और अधिष्ठानके संयोगसे जो सृष्टि होती है वह मिथ्या ही होती है । सैंतीसवें श्लोकमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनात्-
अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

'भगवन् ! वास्तविक बात तो यह है कि यह जगत् उत्पत्तिके पहले नहीं था और प्रलयके बाद नहीं रहेगा; इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीचमें भी एकरस परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है । इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टीमें घड़ा, लोहेमें शस्त्र और सोनेमें कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तवमें मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं । वैसे ही

परमात्मामें वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना है। इसे नासमझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको उपदेश करते हुए कहा—

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि माया मनोमयम्॥
(११।७।७)

'इस जगत्में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। सपनेकी तरह मनका विलास है। इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो।'

न यत्पुरस्तादुत यन्नपश्चात् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत् तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम्॥
(११।२८।२१-२२)

जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ सत्ता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीख रही है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने चित्र-विचित्र नाम-रूप हैं उनके रूपमें ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है।

न केवल परमात्माके स्वरूपमें यह प्रपंच मिथ्या है, बल्कि विवेक करनेपर जो शुद्ध त्वंपदार्थ सिद्ध होता है उसकी दृष्टिसे भी नाम-रूपात्मक प्रपंच मिथ्या ही है—

> आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
> अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥
> एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
> अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥
> (७।७।१९-२०)

'आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असङ्ग तथा आवरण रहित है।

ये बारह आत्माके उत्कृष्ट लक्षण हैं। इनके द्वारा आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको चाहिये कि शरीर आदिमें अज्ञानके कारण जो 'मैं' और 'मेरे' का झूठा भाव हो रहा है, उसे छोड़ दे।'

इस प्रकार आत्माका विवेक करके स्वरूपदृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट अनुभव होता है कि—

> बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।
> दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत्॥
> दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत्।
> एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात्॥

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते ।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥
यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च ।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह ।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्यैवाङ्ग तन्तवः ॥
यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः ।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥
नहि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥
(१२।४।२३-३०)

'परीक्षित ! (अब आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्षका स्वरूप बतलाया जाता है।) बुद्धि, इन्द्रिय, और उनके विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान, ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है। उन सबका तो आदि भी है और अन्त भी। इसलिये वे सब सत्य नहीं हैं। वे दृश्य हैं और अपने अधिष्ठानसे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है। इसलिये वे सर्वथा मिथ्या—मायामात्र हैं।

जैसे दीपक, नेत्र और रूप—ये तीनों तेजसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और इनके विषय तन्मात्राएँ भी अपने अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं—यद्यपि वह इनसे सर्वथा भिन्न है; (जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें अध्यस्त सर्प अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है, परन्तु अध्यस्त सर्पसे अधिष्ठानका कोई सम्बन्ध नहीं है।)

परीक्षित! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—यह तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही हैं। अतः इनके कारण अन्तरात्मामें जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्वकी प्रतीति होती है, वह केवल मायामात्र है। बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह विश्व उत्पत्ति और प्रलयसे ग्रस्त है, इसलिये अनेक अवयवोंका समूह अवयवी है। अतः यह कभी ब्रह्ममें होता है और कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें मेघमाला कभी होती है और कभी नहीं होती।

परीक्षित! जगत्के व्यवहारमें जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं उनके न होनेपर भी उनके भिन्न-भिन्न अवयव सत्य माने जाते हैं; क्योंकि वे उनके कारण हैं। जैसे वस्त्ररूप अवयवीके न होनेपर भी उसके कारणरूप सूतका अस्तित्व माना ही जाता है; उसी प्रकार कार्यरूप जगत्के अभावमें भी इस जगत्के कारणरूप अवयवकी स्थिति हो सकती है।

परन्तु ब्रह्ममें यह कार्य-कारणभाव भी वास्तविक नहीं है; क्योंकि देखो, कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु। इस प्रकारका जो भेद दिखायी देता है, वह केवल भ्रम ही है। इसका हेतु यह है कि सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। विशेषके बिना सामान्य और सामान्यके बिना विशेषकी स्थिति नहीं हो सकती। कार्य और कारणभावका आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्वाप्निक भेद-भावके समान सर्वथा अवस्तु है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रपञ्चरूप विकार स्वाभिक विकारके समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मासे भिन्न रूपमें अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता। यदि आत्मासे पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय तो यह भी चिद्रूप आत्माके समान स्वयंप्रकाश होगा और ऐसी स्थितिमें वह आत्माकी भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा।

परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि परमार्थ सत्य वस्तुमें नानात्व नहीं हैं। यदि कोई अज्ञानी परमार्थ सत्य वस्तुमें नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह मानना वैसा ही है, जैसा महाकाश और घटाकाशका, आकाशस्थित सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका तथा बाह्य वायु और आन्तर वायुका भेद मानना।

यही बात सातवें स्कन्धके इन श्लोकोंमें स्पष्ट कही हुई है—

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थं विकल्पितम्॥
क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा॥
धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः॥
स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पे सति वस्तुनः।
जाग्रत् स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता॥
(७।१५।५८–६१)

दर्पण आदिमें दीख पड़नेवाला प्रतिबिम्ब विचार और युक्तिसे बाधित है, उसका उनमें अस्तित्व है नहीं, फिर भी वस्तुके रूपमें

तो वह दीखता ही है। वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा दीखनेवाला वस्तुओंका भेद-भाव भी विचार, युक्ति और आत्मानुभवसे असम्भव होनेके कारण वस्तुतः न होनेपर भी सत्य-सा प्रतीत होता है।

पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंसे इस शरीरका निर्माण नहीं हुआ है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न तो वह उन पञ्चभूतोंका संघात है और न विकार या परिणाम ही; क्योंकि यह अपने अवयवोंसे न तो पृथक् है और न उनमें अनुगत ही है, अतएव मिथ्या है।

इसी प्रकार शरीरके कारण पञ्चभूत भी अवयवी होनेके कारण अपने अवयवों—सूक्ष्म भूतोंसे भिन्न नहीं हैं, अवयवरूप ही हैं। जब बहुत खोज-बीन करनेपर भी अवयवोंके अतिरिक्त अवयवोंका अस्तित्व नहीं मिलता—वह असत् ही सिद्ध होता है, तब अपने-आप ही यह सिद्ध हो जाता कि ये अवयव भी असत्य ही हैं।

जबतक अज्ञानके कारण एक ही परमात्मतत्त्वमें अनेक वस्तुओंके भेद मालूम पड़ते रहते हैं, तबतक यह भ्रम भी रह सकता है कि जो वस्तुएँ पहले थीं, वे अब भी हैं और स्वप्नमें भी जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके अलग-अलग अनुभव होते ही हैं तथा उनमें भी विधि-निषेधके शास्त्र रहते हैं—वैसे ही जबतक इन भिन्नताओंके अस्तित्वका मोह बना हुआ है, तबतक यहाँ भी विधि-निषेधके शास्त्र हैं ही।

छठे स्कन्धमें यह बात दो टूक कही हुई है कि यह दृश्यमान प्रपंच गन्धर्वनगर, स्वप्न, माया एवं मनोरथके समान है। बिना हुए ही मनकी कल्पना से दीख रहे हैं और कभी-कभी तो खोज करने पर दिखायी भी नहीं पड़ते—........

'गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ।'

'दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवा ।'

इसलिये—

'द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश ।'

'चित्रकेतु ! इसलिये तुम द्वैतमें सत्य वस्तु होनेका विश्वास छोड़ दो और शान्त हो जाओ ।'

(७)

सर्वं वेदान्तसारम् (१२।१३।१५)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थरत्न सम्पूर्ण वेदान्तोंका सारसंग्रह है इसकी एक-एक कथामें वैराग्य, ज्ञान, योग एवं भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्यका उपदेश—सन्देश दिया गया है । शत-शत भगवल्लीलाके उज्ज्वल प्रसङ्ग अपने अमृतसे सन्त और देवताओंको आनन्द देते रहते हैं । यह उक्ति सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है कि जो इसके रसामृतसे तृप्त है उसका मन कहीं अन्यत्र आकृष्ट नहीं हो सकता । इस प्रसङ्गका अधिक विस्तार न करके अन्तमें आइये, हम सब श्रीमद्भागवतके शब्दोंमें ही श्रीशुकदेवजी महाराजको नमस्कार करें—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद् व्युदस्तान्यभावो—
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥
(१२।१२।६८)

ट्रस्टका धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रकाशनः—

माण्डूक्य प्रवचन	५–००	
भक्ति-रहस्य	२–००	
सत्सङ्ग, साधन और फल	२–००	
श्रीमद्भागवत रहस्य	२–५०	द्वि. संस्करण
सुगम भक्तिमार्ग	२–००	
भगवान् के पाँच अवतार	२–००	
ईशावास्य प्रवचन	२–२५	
महाराजश्रीका एक परिचय	०–२५	
आनन्द वाणी भाग १.	०–५०	
,, ,, ,, २.	०–५०	
,, ,, ,, ३.	१–००	
श्री पुरुषोत्तम योग	२–५०	
मोहन नी मोहनी (गुजराती)	०–५०	
चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी)	१–००	
श्रीमद्भागवत रहस्य (सिन्धी)	२–००	

'पिबत भागवतं रसमालयम्'